श्री

जैन मनोविज्ञान

Jaina Psychology

मूल लेखक

सी. आर. जैन

विद्यावारिधि, बैरिस्टर-ऐट-लॉ

हिंदी अनुवाद

मूल प्रकाशक: के. मित्र, दि इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

वर्तमान प्रकाशक: मृणाल जैन

विषय-सूची

भूमिका

किसी दुरूह विषय को स्पष्ट करने के प्रयास के लिए किसी क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं होती। जैन-मनोविज्ञान — अथवा इसे अधिक उपयुक्त रूप से "उच्चतर मनोविज्ञान" कहा जाना चाहिए — विषय की उस प्रारम्भिक शाखा से सम्बन्ध नहीं रखता, जो संवेदनाओं के मापन और बाह्य स्थूल शरीर पर भावनाओं के प्रभाव आदि तक ही सिमटी रहती है, और जो यह जानने का प्रयत्न सायास टाल देती है कि "आत्मा एक सत्य है अथवा एक कल्पना।" इसका क्षेत्र विचार का वह उच्चतर विभाग है, जो उस तत्त्व की प्रकृति को समझने का प्रयास करता है, जिसकी उपस्थिति शरीर में प्रकाश और जीवन का, तथा क्रिया और क्रिया के निषेध का, और मन की विविध प्रकार की प्रेरणाओं तथा उन्मुखताओं का स्रोत है।

यह पुस्तक मुख्यतः वस्तुओं के विषय में जैन दृष्टिकोण पर आधारित है, किन्तु इसके पृष्ठों में जैन पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करके विषय को बोझिल बनाना उचित नहीं समझा गया।

शिमला — सी. आर. जैन

अध्याय १

आत्मा

प्रत्यक्ष-ज्ञान (परसेप्शन) किसी सरल (साधारण, अखण्ड) द्रव्य का ही कार्य हो सकता है। यह किसी संयुक्त वस्तु (कम्पाउण्ड) द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान एक मानसिक संश्लेषण है — एक अविभाज्य अनुभूति अथवा संवेदन। प्रत्यक्ष-ज्ञान किसी प्रतिबिम्ब (रिफ्लेक्शन) के समान नहीं है, जैसे किसी वस्तु का दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ना।

प्रतिबिम्ब अनेक अंशों से मिलकर बनता है, जबकि प्रत्यक्ष-ज्ञान एक शुद्ध संश्लेषण है — एक अविभाज्य अनुभूति अथवा संवेदन। यदि प्रत्यक्ष-ज्ञान किसी संयुक्त सतह पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान होता, तो संयुक्त सतह का कोई भी भाग सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं कर पाता, क्योंकि उसके विभिन्न भाग प्रतिबिम्बित सतह के विभिन्न स्थानों में प्रकट होते। इस प्रकार प्रतिबिम्बित सतह का प्रत्येक भाग केवल उतना ही जान पाता जितना उस पर प्रतिबिम्बित है, इससे अधिक नहीं। वस्तु का सम्पूर्ण रूप सतह के किसी एक भाग में प्रतिबिम्बित नहीं होता, और न ही उसकी सम्पूर्ण सतह पर कहीं जाना जा सकता है।

अतः प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय (आधार) एक ऐसा सरल द्रव्य होना चाहिए जिसके कोई अंश न हों, ताकि सम्पूर्ण उद्दीपन उस अखण्ड विषय पर एक साथ कार्य करे और उसके द्वारा तत्काल पहचाना जाए।

तर्कानुमान (लॉजिकल इन्फरेन्स) का आधार भी एक अखण्ड सत्ता होनी चाहिए। यदि आधार-वाक्य (प्रेमिसेज़) तथा उनके निहितार्थ किसी विस्तृत संयुक्त वस्तु में फैले होते, तो मानसिक संश्लेषण सम्भव न होता। किसी दिए गए आधार-वाक्यों के समूह से तर्कानुमान निकालने के लिए यह आवश्यक है कि वही एक अखण्ड और असंयुक्त मन उन आधार-वाक्यों तथा उनके निहितार्थों और विषय-वस्तु को ग्रहण करे। यदि आधार-वाक्यों की विषय-वस्तु किसी संयुक्त सत्ता के विभिन्न भागों में बँटी होती, तो कोई भी भाग सम्पूर्ण न्याय-वाक्य (सिलोजिज़्म) को ग्रहण न कर पाता, और निष्कर्ष निकालना एक असम्भव प्रक्रिया बन जाता। अतः हमारी वह चेतना, जो वास्तव में तर्कानुमान निकालती है, अवश्य ही एक सरल द्रव्य होनी चाहिए, अथवा

किसी सरल द्रव्य का कार्य होनी चाहिए। जो मन शुभता (गुडनेस), प्रेम और सत्य जैसे अमूर्त विचारों (एब्स्ट्रैक्ट आइडियाज़) को जानता है, वह भी अवश्य ही एक अविभाज्य वस्तु होना चाहिए।

क्योंकि अमूर्त विचारों को टुकड़ों में नहीं तोड़ा जा सकता, न ही किसी विस्तृत संयुक्त सतह पर फैलाया जा सकता है।

सरल वस्तुएँ शून्य से उत्पन्न अथवा निर्मित नहीं हो सकतीं, न ही भिन्न-भिन्न तत्त्वों से निर्मित की जा सकती हैं। उनमें कोई अंश अथवा पृथक्करणीय तत्त्व नहीं होते, और वे किसी भी प्रकार नष्ट अथवा टुकड़ों में विभक्त नहीं की जा सकतीं।

जो न उत्पन्न किया जा सकता है, न नष्ट, वह अवश्य ही नित्य होना चाहिए! अतः मन एक नित्य सत्ता है।

जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह किसी आधार-भूत द्रव्य के बिना स्वतन्त्र रूप से गुणों का आधार नहीं हो सकता। अतः मन को भी एक द्रव्य होना चाहिए।

प्राचीन विद्वानों ने "आत्मा" शब्द का प्रयोग एक ऐसे ज्ञाता-द्रव्य की अपनी अवधारणा को व्यक्त करने के लिए किया, जो अखण्ड और अविनाशी है, और इसीलिए अमर है। यह शब्द उपयुक्त और सुविधाजनक है, तथा अंग्रेज़ी-भाषी जगत में इसकी जो प्रचलनशीलता प्राप्त है, उसके कारण इसे बनाए रखा जा सकता है। अन्य भाषाओं में भी इसी भाव को व्यक्त करने वाले उपयुक्त शब्द विद्यमान हैं — आत्मन्, रूह, जीव, इत्यादि।

प्रत्यक्ष-ज्ञान एक अनुभूति है। यह उद्दीपन (स्टिमुलस) द्वारा निर्मित नहीं होता। उद्दीपन भौतिक होता है, किन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञान भौतिक नहीं है। जिस काग़ज़ पर यह पुस्तक छपी है, वह श्वेत रंग का है और उसकी लम्बाई-चौड़ाई कितने ही इंच है, किन्तु मन में उसका जो विचार है, वह न रंग-रहित है, न आयाम-रहित। वह केवल एक अविभाज्य अनुभूति अथवा संवेदन है। चेतना की कोई भी अवस्था कभी भी रंग, स्वाद, स्पर्श, गन्ध और शब्द जैसे भौतिक गुणों से युक्त नहीं होती।

अतः चेतना, पदार्थ में पाए जाने वाले गुणों से युक्त नहीं है, और पदार्थ से एक भिन्न प्रकार का द्रव्य है।

इन्द्रियाँ केवल भौतिक उद्दीपनों — रंग, शब्द आदि — के प्रति ही अनुक्रिया करती हैं। वे अभौतिक वस्तुओं का संज्ञान नहीं ले सकतीं। मन अथवा चेतना भौतिक गुणों से युक्त नहीं है, और इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता।

अतः आत्मा को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता।

अध्याय २

ज्ञान की प्रकृति

प्रत्यक्ष-ज्ञान उस उद्दीपन से भिन्न है, जो इसे उत्पन्न करता है। उद्दीपन स्वभाव से भौतिक है, किन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञान मानसिक (साइकिक) है।

प्रत्यक्ष-ज्ञान केवल उद्दीपन द्वारा जगाया जाता है; यह उसके द्वारा बनाया अथवा निर्मित नहीं होता। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्ष-ज्ञान एकात्मक (यूनिटरी) है; जबकि उद्दीपन अनेकात्मक अर्थात् संयुक्त अथवा मिश्रित प्रकृति का है।

किसी सरल वस्तु को न बनाया जा सकता है, न निर्मित किया जा सकता है; वह स्वयं ही, पहले से बनी हुई, अस्तित्व में रहती है। यह बात चेतना की एक सरल अवस्था, अर्थात् किसी अविभाज्य विचार पर भी लागू होती है।

इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष-ज्ञान और विचार मन में अनुत्पन्न और अनिर्मित रूप में विद्यमान रहते हैं। वे उतने ही अविनाशी हैं जितनी वह आत्मा जिसमें वे निहित हैं। ये सब मानो अलग-अलग टुकड़े या वस्तुएँ नहीं हैं जो किसी-न-किसी प्रकार उस सरल वस्तु — आत्मा — में ठूँसी गई हों। वे सब परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त रहते हैं और वास्तव में एक ही महान् विचार का निर्माण करते हैं।

इस एक विशाल विचार के अखण्ड अंश समय-समय पर अनुभव में आते हैं; शेष, जो अनुभव में नहीं आते, दबे हुए (सप्रेस्ड) बने रहते हैं।

प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रक्रिया अथवा तन्त्र तीन भागों से मिलकर बनता है, अर्थात् इन्द्रियाँ, संवेदी तन्त्रिकाएँ (सेन्सरी नर्व्ज़) व केन्द्र, और व्यक्तिगत चेतना की अनुक्रिया। वस्तुओं द्वारा संचरित उद्दीपन इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। तत्पश्चात् वे कम्पनात्मक गति अथवा क्षोभ (एजिटेशन) के रूप में संवेदी तन्त्रिकाओं के सहारे

संचरित होते हैं। तब चेतना अपने अन्तर्निहित 'विचारों' के साथ उस कम्पनात्मक बल के प्रति अनुक्रिया करती है, और तभी ज्ञान होता है।

संवेदी तन्त्रिकाएँ स्वयं उस क्षोभ को नहीं जानतीं जिसे वे संचरित करती हैं। यदि वे ऐसा करतीं, तो हमें उद्दीपन के सम्पूर्ण मार्ग में वस्तु का बोध होता रहता। यदि संवेदी तन्त्रिकाओं की इकाइयाँ चेतनायुक्त जीवित कोशिकाएँ हों, तो वे अपने मन के प्रकार के अनुसार कुछ सीमा तक उस विक्षोभ को जान लेंगी जो उनके ऊपर से गुज़रता है, किन्तु प्रत्येक कोशिका जो कुछ भी अनुभव करेगी, उसे वह अपनी निकटवर्ती कोशिका को संचारित नहीं करेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष-ज्ञान हस्तान्तरणीय (एलिएनेबल) वस्तुएँ नहीं हैं।

अध्याय ३

सर्वज्ञता

❊

आत्म-द्रव्य की जो एक विशाल विचार-राशि है, वह अपनी विषय-वस्तु की दृष्टि से अनन्त है। वह सभी कालों और सभी स्थानों की समस्त वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वस्तुएँ केवल आगत उद्दीपन के प्रति चेतना की अनुक्रिया द्वारा ही जानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, चूँकि आत्मा एक द्रव्य है, और चूँकि द्रव्यों के गुण-धर्म सभी प्रकरणों में समान होते हैं, अतः सभी आत्माओं की ज्ञान-सम्बन्धी क्षमता समान है। इसलिए जो एक आत्मा जानती है, वह अन्य सभी आत्माओं द्वारा जाना जा सकता है। इसका अभिप्राय वस्तुतः यही है कि प्रत्येक आत्मा में यह क्षमता है कि वह वह सब कुछ जान सके, जो भूतकाल में किसी भी आत्मा को ज्ञात था, जो आज किसी को ज्ञात है, तथा जो भविष्य में किसी को कभी ज्ञात होगा। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक आत्मा सम्भावित रूप से अनन्त ज्ञान की अधिकारिणी है, अर्थात् ऐसा ज्ञान जो काल और स्थान से असीमित है। सीधे शब्दों में, प्रत्येक आत्मा सम्भावित रूप से सर्वज्ञ है।

जो कुछ मन के द्वारा कभी नहीं जाना जा सकता, वह वस्तुतः अस्तित्वहीन ही है। क्योंकि जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह अस्तित्व में है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता; और जिसे कोई कभी नहीं जान सकेगा, उसका अस्तित्व कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अतः समस्त वस्तुएँ आत्मा द्वारा ज्ञेय हैं।

इस प्रकार आत्मा की अनन्त चेतना में यह क्षमता है कि वह प्रकृति में विद्यमान समस्त वस्तुओं को — जो भूत में थीं, वर्तमान में हैं, अथवा भविष्य में कभी होंगी — स्थान के किसी भी भाग में और काल के तीनों कालों — भूत, वर्तमान और भविष्य — में से किसी में भी जान सके!

अध्याय ४

आत्मा एक बुद्धिमान द्रव्य

आत्मा अपने अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वग्राही 'विचार' से पृथक् अथवा भिन्न नहीं है। यदि वे दोनों पृथक् होते, तो ज्ञान उसमें वैसे ही निवास करता जैसे कोई मनुष्य किसी घर में निवास करता है। किन्तु आत्मा में ऐसा कोई रिक्त स्थान (वैक्यूम) नहीं है जिसमें ज्ञान किसी किरायेदार की भाँति निवास कर सके।

इसके अतिरिक्त, इस मान्यता के अनुसार ज्ञान अपनी ही चेतना की एक अवस्था होने के बजाय एक बाह्य वस्तु के समान बन जाएगा, और उसे अन्य वस्तुओं की भाँति — भिन्न-भिन्न उद्दीपनों के माध्यम से — जाना जाना होगा। किन्तु ज्ञान कोई संवेदी उद्दीपन उत्सर्जित नहीं करता, क्योंकि वह स्वभाव से अभौतिक है।

अतः हमें यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान और आत्मा वस्तुतः एक ही वस्तु के दो भिन्न नाम हैं: आत्मा ज्ञान है, और ज्ञान आत्मा है! इसलिए आत्मा स्वभाव से एक बुद्धिमान द्रव्य है।

समस्त जीवधारी दो प्रकार की चेतना से युक्त होते हैं: (1) प्रत्यक्ष-ज्ञान (परसेप्शन), और (2) जो कुछ प्रत्यक्ष हुआ है उसका बोध, महत्त्व अथवा अभिप्राय-ग्रहण — जैसे, किसी संतरे को एक वस्तु के रूप में देखना और उसे भोजन की एक वस्तु के रूप में जानना। शब्दों (ध्वनियों) के सन्दर्भ में भी उनका अभिप्राय दूसरे प्रकार की चेतना के अन्तर्गत ही आता है। किन्तु इस प्रकार की चेतना (शब्दों का अभिप्राय-ग्रहण) केवल उच्चतर जीव-रूपों में ही पाई जाती है। तथापि ऐसा कोई जीव-रूप नहीं है, जो इन दोनों प्रकार के ज्ञान से — चाहे कितने ही स्थूल और अस्पष्ट रूप में ही सही — रहित हो; क्योंकि निम्नतम जीव-रूप भी यह जानते हैं कि क्या भोजन है और क्या नहीं, यद्यपि उनमें प्रकट होने वाली चेतना का रूप विशुद्ध रूप से सहज-प्रवृत्तिमूलक (इंस्टिंक्टिव) होता है।

अध्याय ५

ज्ञानावरण आवरण

आत्मा का स्वयंसिद्ध अनन्त ज्ञान अवश्य ही किसी-न-किसी प्रकार के आवरण से ढका होना चाहिए, अन्यथा वह अपनी सम्पूर्णता में एक साथ प्रकट हो जाता। जो आवरण इसे ढके हुए है, उसे ज्ञानावरण (ज्ञान = knowledge, आवरण = a cover) कहा जाता है, जिसका अर्थ है ज्ञान पर पड़ा हुआ एक आवरण। किन्तु यदि यह आवरण न हो, तो मन को अपनी सम्पदा प्रकट करने के लिए बाह्य उद्दीपन की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

ज्ञान पर पड़ा यह आवरण द्रव्यात्मक प्रकृति का है, और अत्यन्त सूक्ष्म, अदृश्य पुद्गल (पदार्थ) से बना है। यह सभी आत्माओं में मोटाई की दृष्टि से समान नहीं है। कुछ में केवल एक इन्द्रिय होती है, अर्थात् स्पर्श; उनमें यह आवरण इतना गाढ़ा होता है कि शेष चार इन्द्रियों की सक्रियता को अवरुद्ध कर देता है। कुछ में स्पर्श और रस दोनों होते हैं; इनमें शेष तीन इन्द्रियाँ अनुपस्थित रहती हैं, और इसी क्रम में आगे भी।

मनुष्य में, ज्ञानावरण के पतले होने के साथ-साथ, चिन्तन का एक केन्द्रीय अंग (सेन्ट्रल ऑर्गन ऑफ थॉट, प्रतिबिम्बन का केन्द्र) भी प्रकट होता है। पञ्चेन्द्रिय प्राणियों में से कुछ — जैसे घोड़े, बन्दर, कुत्ते आदि — में भी यह केन्द्रीय प्रतिबिम्बन-अंग मनुष्य की अपेक्षा कम परिष्कृत रूप में विद्यमान रहता है। उन्नत साधु-सन्तों के प्रकरण में, ज्ञान को अवरुद्ध करने वाला यह आवरण और भी क्षीण हो जाता है। तब उन्हें दिव्यदृष्टि (क्लेयरवॉयंस), और और भी अधिक उन्नत प्रकरणों में दूरसंवेदन (टेलीपैथी) प्राप्त होती है। जब यह आवरण पूर्णतः नष्ट हो जाता है, तब आत्मा सर्वज्ञ हो जाती है, अर्थात् सर्वद्रष्टा और सर्वज्ञाता बन जाती है!

अध्याय ६

इच्छा-शक्ति (विल)

❊

इच्छा (डिज़ायर) के अधीन क्रियाशीलता का तत्त्व ही इच्छा-शक्ति (विल) है। इच्छा-शक्ति, व्यक्तिगत इच्छाओं — चेतन और अवचेतन दोनों — के समग्र योग से निर्मित होती है। इच्छाएँ स्वयं मानसिक लालसाएँ अथवा आवेग हैं, जो तृप्ति चाहते हैं। मन के केन्द्रीय कार्यालय में आत्मा इच्छा-शक्ति के रूप में प्रकट होती है। मानसिक आवेग एक-दूसरे से अपने-अपने लक्ष्यों के भेद के कारण भिन्न होते हैं, प्रत्येक का अपना पृथक् लक्ष्य होता है। ये 'लक्ष्य' चेतना की एक अवस्था के रूप में विद्यमान रहते हैं, जो दृश्य अथवा अदृश्य संवेदन के अनुरूप हो सकते हैं। इनमें से जो आवेग सबसे अधिक सक्रिय होते हैं, वे किसी भी क्षण व्यक्ति की क्रिया और विचार की दिशा निर्धारित करते हैं। कम सक्रिय आवेग शान्त पड़े रहते हैं; उनमें प्रभावी होने के लिए पर्याप्त ऊर्जा नहीं होती। किन्तु वे फिर भी स्वभाव से ज्वालामुखी के समान हैं, और किसी उपयुक्त कारण से उत्तेजित होने पर किसी भी क्षण सक्रिय रूप ले सकते हैं। विचार-विमर्श (डिलिबरेशन) में, मार्गों का चुनाव इस बात से निर्धारित होता है कि इच्छा-शक्ति की सुख-प्रधान (प्लेज़र-सीकिंग) प्रवृत्तियों को कितना सन्तोष प्राप्त होगा।

व्यक्ति का चरित्र (अथवा स्वभाव) उसकी इच्छाओं के समग्र योग में निहित है — जितनी अधिक सौम्य तीव्रता और जितनी कम संख्या, उतना ही उच्चतर प्रकार, और इसके विपरीत भी सत्य है। आचरण (कण्डक्ट) किसी विशेष व्यवहार में क्रियाशील चरित्र है। यह सामान्य स्वभाव के अनुरूप हो सकता है, अथवा उसके अनुरूप न भी हो। यदि कोई सुप्त आवेग अकस्मात् जाग्रत हो जाए और व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित न किया जाए तो आचरण उसके सामान्य स्वभाव की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं होगा; अन्यथा वह उसके अनुरूप ही रहेगा।

अध्याय ७

कषाय (पैशन्ज़)

❈

जब इच्छाएँ सक्रिय रूप से क्रियाशील होती हैं, तब वे कषायों (अथवा प्रबल भावावेगों) में विकसित हो जाती हैं। किसी वस्तु के लिए सक्रिय लालसा को लोभ कहा जाता है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति अथवा भोग में बाधा पड़ने पर जो उग्र क्रोधावस्था भड़क उठती है, वह क्रोध है। इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए जिस चतुराई का सहारा लिया जाता है, वह माया (देसीट) है। इच्छित वस्तु अथवा अवस्था की प्राप्ति से जो तीव्र आत्म-गौरव की स्थिति उत्पन्न होती है, वह मान (प्राइड) है। कषाय चार भिन्न-भिन्न मात्राओं में हो सकते हैं। वे मन्द, तीव्र, अत्यन्त प्रबल, तथा असह्य — अर्थात् पूर्णतः अनियन्त्रणीय — हो सकते हैं। इनमें सबसे बुरे वे कषाय हैं जो असह्य कोटि के होकर अपनी चरम सीमा पर होते हैं (मानो उबल रहे हों)। जो इनके प्रभाव में होता है, वह किसी भी सीमा तक जा सकता है, और एक पागल मनुष्य के समान आचरण करेगा। वह स्वयं को अथवा किसी अन्य को भी मार डालेगा। कषायों के अनेक रूप हैं; किन्तु वे सभी इन्हीं चार मूल कषायों से बनते हैं।

कषायों के सभी रूप मन की शान्ति और बौद्धिक कार्य में कमोबेश बाधा डालते हैं। इसका कारण यह है कि कषाय इच्छा के ही उग्र रूप हैं, जिसका अर्थ है मानसिक लालसा अथवा क्षोभ। किसी वस्तु को देखकर उस मनुष्य अथवा प्राणी का मन क्षुब्ध हो उठता है, जो उसे प्राप्त करने अथवा भोगने की इच्छा रखता है। जो ऐसी कोई इच्छा नहीं रखता, वह उसकी उपस्थिति से अप्रभावित रहेगा।

इच्छा आत्मा से पृथक् कुछ नहीं है। जो आत्मा किसी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने की लालसा से प्रेरित होती है, अर्थात् जो आत्मा उस लालसा से क्षुब्ध होती है, वही स्वयं इच्छा का वास्तविक रूप है। कषायों के विषय में भी यही सत्य है। क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा से पृथक् कुछ नहीं हैं। वे आत्मा की क्षुब्ध अवस्था के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

अध्याय ८

बुद्धि (इंटलेक्ट)

❊

इच्छा-शक्ति के समान, बुद्धि भी आत्मा का ही एक पक्ष है। इच्छा-शक्ति आत्मा का इच्छुक (डिज़ायरिंग) पक्ष है, और बुद्धि उसका चिन्तनशील (थॉटफुल) पक्ष है। ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से किसी भी प्रकार पृथक् अथवा पृथक्करणीय भी नहीं हैं।

इच्छा-शक्ति स्वयं ही, पर्याप्त रूप से शान्त होकर विचार करने में समर्थ होने पर, बुद्धि (रीज़न) के रूप में कार्य करती है। जब भी प्रचण्ड कषाय उस शान्त-चित्त चिन्तक को अपने अधिकार में ले लेते हैं, तब बुद्धि तत्काल सिंहासनच्युत हो जाती है। यदि आत्मा की शान्ति में बाधा डालने वाली कोई इच्छा न होती, तो वह सर्वज्ञ होती; जब इच्छाएँ मन्द रूप में सक्रिय होती हैं, तब आत्मा शान्त, चिन्तनशील और तर्कसंगत होती है; और जब प्रचण्ड कषाय क्षेत्र पर अधिकार जमा लेते हैं, तब वह क्रूर हो जाती है और बिना सोचे-समझे कार्य करती है, यहाँ तक कि मारने अथवा मारे जाने की भी उसे कोई परवाह नहीं रहती।

जब भी चेतना पूर्वाग्रह (प्रेजुडिस) से आक्रान्त होती है, तब भी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। जब पूर्वाग्रह कट्टरता (फैनेटिसिज़्म) का रूप ले लेता है, तब वह वस्तुतः सिंहासनच्युत हो जाती है।

अतः जो पाँच प्रकार के बल बुद्धि के उचित कार्य में बाधा डालते हैं, वे हैं — असह्य कोटि के चार प्रकार के कषाय, तथा अपने सबसे बुरे रूप में पूर्वाग्रह। जब तक इन्हें निश्चित रूप से नियन्त्रण में नहीं लाया जाता, तब तक शान्त चिन्तन सम्भव नहीं है।

अध्याय ९

अवधान (अटेन्शन)

⁂

अवधान (अटेन्शन) सचेत जिज्ञासा (निश्चयन) का, तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान और ज्ञान में क्रमिकता (सक्सेशन) का साधन है। जब तक किसी वस्तु की ओर अवधान निर्देशित न हो, तब तक वह मन द्वारा जानी नहीं जाएगी। यहाँ तक कि मुख में जीभ पर रखी हुई वस्तुएँ भी — जैसे मिठाई — तब तक अनुभव में नहीं आएँगी जब तक उनकी ओर अवधान न मोड़ा जाए।

अवधान का कार्य उद्दीपन को वस्तु से आत्मा तक पहुँचाना है। जब तक उद्दीपन को आत्मा तक पहुँचने न दिया जाए, वह चेतना को जाग्रत नहीं करेगा, और प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा ज्ञान को उद्बुद्ध करने में असफल रहेगा। अवधान का अर्थ है रुचि (इंटरेस्ट)। हम केवल उसी की ओर अवधान देते हैं जिसमें हमारी रुचि होती है। इच्छा-शक्ति में विद्यमान समस्त आवेगों में से जो सबसे प्रबल होते हैं, वे निरन्तर अपने-अपने विषयों पर स्थिर होने के लिए तत्पर रहते हैं। वे सचमुच अपनी तृप्ति के लिए सदैव तनावग्रस्त (एट टेन्शन) बने रहते हैं। इसीलिए इसे 'अटेन्शन' (अवधान) कहा जाता है। वे शेष आवेगों को पृष्ठभूमि में धकेल देते हैं और स्वयं क्षेत्र पर अधिकार कर लेते हैं, तथा शेष को अवचेतन बना देते हैं। जब तक यह तनाव इतना शिथिल न हो कि उनके उद्दीपन आत्मा तक पहुँच सकें, आत्मा को अन्य वस्तुओं के अस्तित्व का बोध नहीं होगा, चाहे उनका सम्पर्क जीभ पर रखी मिठाई जितना ही निकट क्यों न हो।

अवधान जिस वस्तु पर केन्द्रित होता है, उसे चेतना के प्रकाश-वृत्त में ले आता है। तत्पश्चात् वह अपने भूतकालीन अनुभव के समृद्ध संचय को उस वस्तु की प्रकृति जानने के लिए उस पर लागू करता है।

आत्मा से पृथक् किया जाए तो अवधान कोई मूर्त अथवा ठोस वस्तु नहीं है। यह केवल एक विशेष ढंग से क्रियाशील आत्मा ही है।

अवधान को पहले-पहल वस्तु द्वारा आकस्मिक रूप से आकृष्ट किया जाता है। यह उस चमकती हुई बत्ती (फ़्लैशलाइट) के समान है, जो निरन्तर हर दिशा में घुमाई जाती रहती है, जब तक कि वह किसी रुचिकर वस्तु पर न पड़े। सबसे पहले वस्तु की केवल स्थूल रूपरेखा, अर्थात् उसके सामान्य गुण, ही अनुभव में आते हैं। जब आप किसी मैदान के निकट पहुँचते हैं, तो सबसे पहले आपको घास दिखाई देती है, यह जाने बिना कि वह किस विशेष प्रकार की घास है। तत्पश्चात्, यदि वह वस्तु प्रेक्षक की रुचि जगाती है, तो उसका अवधान उस पर स्थिर हो जाता है, और वह क्रमशः उसके विवरण जान लेता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि संज्ञान सर्वप्रथम उन मानसिक आवेगों के माध्यम से होता है, जो बाह्य जगत में अपनी इच्छाओं की तृप्ति खोज रहे होते हैं।

ये आवेग केवल इतनी ही अनेक इच्छाएँ हैं, जो एक-दूसरे से ऊर्जा की दृष्टि से उतना नहीं जितना गुणात्मक दृष्टि से भिन्न होती हैं। भोजन की इच्छा, पेय की इच्छा से भिन्न प्रकार की वस्तु होनी चाहिए; संतरे की लालसा, केले की लालसा के समान नहीं हो सकती। अतः इच्छाएँ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के सामान्य विचारों की विशेषता वाले मानसिक क्षोभ के अनेक रूप मात्र हैं।

कोई सामान्य विचार, चाहे दृश्य हो या अदृश्य, केवल संवेदन के एक अविभाज्य केन्द्रक (न्यूक्लियस) की प्रकृति का हो सकता है। यह कोई प्रतिमा (इमेज) नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसी स्थिति में यह विशिष्ट (पार्टिकुलराइज़्ड) बन जाएगा। अदृश्य प्रकार का सामान्य विचार भी विशिष्ट नहीं होना चाहिए। आम के फल के स्वाद का सामान्य विचार किसी विशेष आम के स्वाद के समान वस्तु नहीं है। किन्तु यह किसी ठोस विचार अथवा संवेदन का अंश अथवा भाग भी नहीं है। क्योंकि कोई भी संवेदन टुकड़ों अथवा अंशों में विभक्त नहीं किया जा सकता, और कोई भी संवेदन एक से अधिक तत्त्वों अथवा घटक भागों का मिश्रण नहीं होता।

किसी वस्तु — जैसे संतरे — की इच्छा, इस प्रकार, उस मानसिक क्षोभ का एक विशेष रूप है, जो संतरे के सामान्य विचार से मेल खाता है, अर्थात् संतरे के उस संवेदन का, जो सभी संतरों में समान रूप से पाया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह संवेदन का एक रूप है — यदि किसी मनोवैज्ञानिक अवस्था के सन्दर्भ में यह वाक्यांश उचित हो तो — एक प्रकार की संचित (स्टॉक) संवेदना, जो संतरा-जाति के समस्त सदस्यों के संवेदनों के साथ मेल खाएगी, उनसे सामंजस्य स्थापित करेगी, किन्तु किसी अन्य वस्तु के साथ नहीं।

अब सामान्य विचार को अधिक यथार्थता के साथ परिभाषित किया जा सकता है। अपने द्रव्यात्मक आधार की दृष्टि से यह आत्मा का एक अविभाज्य पक्ष है; ज्ञान के रूप में यह अविश्लेषणीय और इन्द्रियातीत है, तथा सीमित मन द्वारा जाना कम, अनुभव अधिक किया जाता है; एक सक्रिय आवेग के पीछे प्रेरक बल के रूप में यह एक संवेदन का मानसिक प्रतिरूप है — उसका बेहतर आधा — जो आत्मा और पुद्गल के संयोग से अपना अस्तित्व प्राप्त करता है; और सामान्यतः, यह एक ऐसा बल है जो विशिष्ट तीव्रता, स्वर (पिच) और लय (रिदम) से चिह्नित है, जिसे प्रकृति के अन्धे बलों से इसलिए पृथक् माना जाना चाहिए क्योंकि यह आत्म-द्रव्य का ही एक पक्ष है।

जब क्षोभ का यह सामान्य रूप, जिसे इच्छा अथवा आवेग कहा जाता है, किसी ऐसी वस्तु से मिलता है जो उससे मेल खाने वाले कम्पन उत्सर्जित करती है, तो उसे एक प्रकार का आघात अथवा रोमांच (थ्रिल) अनुभव होता है, जो प्रत्यक्ष-ज्ञान का प्रथम कार्य है, अथवा यों कहें कि प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रक्रिया का प्रथम चरण है। इस अवस्था में संज्ञान 'जाना' कम, 'अनुभव किया' अधिक जाता है, अर्थात् यह ज्ञान (विचार) की अपेक्षा एक अनुभूति के अधिक निकट होता है।

तब अवधान क्रियाशील होता है, जो उस वस्तु की प्रकृति को अपने अन्तर्निहित मानसिक रूपों से परखकर निश्चित करता है। इसके परिणामस्वरूप अब वास्तविक संज्ञान होता है।

अतः ये आवेग मानसिक प्रतिकारक (रि-एजेंट) हैं, और सीमित मन द्वारा बाह्य जगत का समस्त ज्ञान सर्वप्रथम इन्हीं के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। वे वस्तुओं के जाति-संवेदनों (सामान्य विचारों) के सामान्य नक्शे अपने में समाहित रखते हैं, और मानसिक तथा भौतिक कम्पनों के बीच के साम्य के माध्यम से अपनी वस्तुओं की उपस्थिति का पता लगाने में समर्थ होते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से, अवधान क्रमिकता का, और इसलिए ज्ञान की सीमा का, साधन है। हम समस्त वस्तुओं को एक साथ नहीं, अपितु एक के बाद एक ही जानते हैं। फिर भी अनन्त ज्ञान अपनी सम्पूर्ण व्यापकता में चेतना के भीतर सदैव विद्यमान रहता है।

यह अनन्त ज्ञान विशिष्ट वस्तुओं पर अवधान के केन्द्रीकरण द्वारा अवरुद्ध रहता है। हम उस सम्पूर्ण विस्तृत क्षेत्र को भी नहीं देखते जो हमारी दृष्टि-पटल (रेटिना) पर अंकित होता है। जो कुछ हमें तात्कालिक रूप से रुचिकर लगता है, वही सब कुछ मन द्वारा अनुभव में आता है।

अध्याय १०

सहज-प्रवृत्तियाँ (इंस्टिंक्ट्स)

❊

'दंश करने वाले' (स्टिंगिंग) आवेग ही सहज-प्रवृत्तियाँ (इंस्टिंक्ट्स) हैं। मूल सहज-प्रवृत्तियाँ केवल चार हैं: (1) जीवन की सहज-प्रवृत्ति, (2) भोजन की सहज-प्रवृत्ति, (3) कामेच्छा की सहज-प्रवृत्ति, तथा (4) स्वामित्व (परिग्रह) की सहज-प्रवृत्ति।

जटिल सहज-प्रवृत्तियाँ जीवन-यात्रा में अर्जित होती हैं, किन्तु वे शुद्ध सहज-प्रवृत्तियों की अपेक्षा व्यवहार की विविधताओं के अधिक समीप होती हैं।

सहज-प्रवृत्तियों को प्रशिक्षित किया जा सकता है, रूपान्तरित किया जा सकता है, यहाँ तक कि उन्मूलित भी किया जा सकता है। आत्महत्या करने वाला जीवन की सहज-प्रवृत्ति को चुनौती देता है; ब्रह्मचारी काम-वासना पर विजय पाता है; सन्त परिग्रह के मोह का त्याग कर देते हैं, अपनी वासनाओं को वश में करने का प्रयत्न करते हुए; और जो सर्वज्ञता को प्राप्त होते हैं, वे भूख पर भी विजय पा लेते हैं, तथा अन्न से नहीं, ज्ञान के पोषण से जीवित रहते हैं!

भय पर भी सन्त विजय प्राप्त कर लेते हैं, जो सदैव मृत्यु के लिए तत्पर रहते हैं, और विपत्ति तथा अस्वस्थता से अविचलित रहते हैं।

अध्याय ११

अवचेतन (सब-कॉन्शस)

❊

आत्मा का स्वभाव ही अनन्त ज्ञान है; किन्तु यह सामान्यतः उपलब्ध नहीं है। यह पुद्गल (ज्ञानावरण) के संचित निक्षेपों के नीचे गहरे दबा हुआ है।

जब तक यह पुद्गल-आवरण इतना क्षीण नहीं हो जाता कि वह उसमें से प्रवेश कर सके, तब तक इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। विचारों की वह अनन्तता अभी अक्रियाशील पड़ी रहती है। वे हमारे अस्तित्व की सबसे गहरी परतों में स्थित रहते हैं।

जो आवेग सक्रिय हैं, वे उस बुद्धि की छोटी-सी उज्ज्वल किरण को घेरे रहते हैं, जो हमें जीवन का कार्य चलाने में समर्थ बनाती है। हम इसी छोटी-सी बुद्धि की सहायता से अपने आन्तरिक सम्बन्धों को बाह्य जगत के साथ समायोजित करते हैं। यह भी कभी-कभी सक्रिय आवेगों की उग्रता से आच्छादित हो जाती है। शेष आवेग, जो कम सक्रिय अथवा अर्ध-सुप्त हैं, चेतना की पृष्ठभूमि बनाते हैं, जहाँ से वे समय-समय पर प्रकट होते हैं। वे चेतना के एक निम्नतर स्तर पर विद्यमान रहते हैं। दमित अथवा अवरुद्ध (सप्रेस्ड) आवेग, जिन्हें किसी-न-किसी कारण से नीचे दबा दिया गया है, भी मन में एक निमग्न अवस्था में विद्यमान रहते हैं, प्रायः विकृत अथवा तोड़ी-मरोड़ी हुई संगतियों (एसोसिएशंज़) के साथ। ये सब चेतना के भिन्न-भिन्न स्तरों पर मन में विद्यमान रहते हैं।

अध्याय १२

मन का केन्द्रीय अंग

❊

शरीर में बौद्धिक क्रियाकलाप का मुख्यालय मन का केन्द्रीय अंग है। यह समस्त इन्द्रियों से सम्बद्ध, अर्थात् उनमें समान (कॉमन) है, और इसीलिए इसे 'सामान्य बोध' (कॉमन सेन्स) कहा जाता है। यदि चिन्तन का यह अंग इन्द्रियों से सम्बद्ध न होता — अर्थात् यदि मनुष्य के शरीर में इन्द्रियाँ किसी एक केन्द्रीय स्थान अथवा कार्यालय से नियन्त्रित न होतीं — तो जीवन में बहुत भ्रम उत्पन्न होता, और बहुमूल्य समय व्यर्थ नष्ट होता। यदि व्यक्तिगत अवधान को विभिन्न इन्द्रिय-अंगों से भिन्न-भिन्न संवेदी आँकड़ों की खोज में एक अंग से दूसरे अंग तक जाना पड़ता, तो विचार-प्रक्रिया में बड़े-बड़े अन्तराल होते। विचार और क्रिया का समन्वय भी तब सर्वथा असम्भव होता।

मन के केन्द्रीय अंग का कार्य व्यक्ति की समस्त गतिविधियों — संवेदी और गतिक (मोटर) दोनों — के सभी पक्षों में समन्वय स्थापित करना, समय की बचत करना, और विचार-विमर्श से भ्रम को दूर करना है। आत्मा एक अभियन्ता (इंजीनियर) के समान है, और उसे अपने कार्यालय में समस्त सम्बन्ध तथा नियन्त्रक यन्त्र उपलब्ध होने चाहिए। यदि किसी विभाग का प्रतिनिधित्व उस कार्यालय में न हो, तो उससे उत्पन्न बुद्धि की कमी एक दुर्भाग्यपूर्ण विपत्ति होगी। मन का केन्द्रीय अंग संवेदी और गतिक — दोनों प्रकार की तन्त्रिकाओं से मिलकर बना है। पहली बाहरी जगत की सूचना भीतर लाती हैं, और दूसरी शरीर की विविध गतियों के माध्यम से इच्छा-शक्ति के आदेशों को कार्यान्वित करती हैं। स्मृति अर्थात् पुनरुत्पादन (रिप्रोडक्शन) के लिए भी संवेदी तन्त्र आवश्यक है, और जिस अत्यधिक तीव्रता के साथ स्मृति विचार-क्रिया के लिए आँकड़े उपलब्ध कराती है, वह इस बात का प्रमाण है कि यह विचारशील मन के मुख्यालय में ही स्थित है।

इस प्रकार मन इच्छा-शक्ति के संचालन के लिए एक कुंजी-पटल (की-बोर्ड) प्रणाली के समान है। यह इच्छा-शक्ति का मुख्यालय है, जहाँ पुद्गल का आवरण किसी भी इन्द्रिय की अपेक्षा अधिक क्षीण होता है।

अध्याय १३

हृदय-कमल

❊

आत्मा का मुख्यालय मस्तिष्क में स्थित नहीं है; क्योंकि मस्तिष्क किसी भी दृष्टि से कषायों और भावनाओं का स्थान नहीं है। यह हृदय के क्षेत्र में, मेरुदण्ड (स्पाइनल कॉलम) में स्थित है — भौतिक हृदय-अंग में नहीं, यद्यपि यह उस भौतिक हृदय को प्रभावित भी करता है और उससे प्रभावित भी होता है। ऐसा कोई अन्य स्थान नहीं है जहाँ इसे उचित रूप से स्थापित किया जा सके। कोई अन्य स्थान कषायों और भावनाओं से उतना प्रभावित नहीं होता, जितना हृदय होता है, और सम्पूर्ण शरीर-यन्त्र में कोई अन्य स्थान आत्मा के मुख्यालय के लिए उतना उपयुक्त नहीं है। हृदय-कमल एक तन्त्रिका-केन्द्र है जिसकी पंखुड़ियाँ इच्छा-शक्ति के लिए संचालन-पटल (ऑपरेटिंग बोर्ड) का निर्माण करती हैं। यह कुंजी-पटल मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों से जुड़ा हुआ है, जिनके माध्यम से बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, और यह शरीर के गतिशील अंगों से भी जुड़ा है, जिनके माध्यम से आत्मा की इच्छाओं को कार्यान्वित किया जा सकता है। इच्छा-शक्ति यहाँ, अपने विविध आवेगों के नेतृत्व में, बाह्य जगत में अपनी इच्छाओं की तृप्ति खोजने में संलग्न रहती है। यह स्वयं उस समय बुद्धि (रीज़न) के रूप में कार्य करती है जब वह अपनी लालसाओं को कुछ सीमा तक वश में करने में समर्थ होती है। जब इसके पूर्वाग्रह नष्ट हो जाते हैं और कषाय मन्द तीव्रता के स्तर तक घट जाते हैं, तब यह आत्म-सचेत (सेल्फ-कॉन्शस) बन जाती है। जब बाह्य प्रकृति के भोग की समस्त इच्छाएँ हृदय से पूर्णतः उन्मूलित हो जाती हैं, तब यह सर्वज्ञता प्राप्त करती है। अतः हृदय, न कि मस्तिष्क, अहंकार (ईगो) का आसन और मुख्यालय है।

अध्याय १४

स्मृति और स्मरण

मस्तिष्क के प्रत्यक्ष-ग्राही केन्द्रों से संवेदी तन्तु मन के केन्द्रीय अंग तक विस्तृत होते हैं। यहाँ वे आत्मा से उसके सबसे संवेदनशील पक्ष में सम्पर्क करते हैं। गतिक (मोटर) तन्त्रिकाओं के भी अपने अन्तिम छोर मन के केन्द्रीय अंग में ही स्थित हैं। इन तन्त्रिका-छोरों में जटिल समूहीकरण होता है। संवेदी और गतिक — दोनों प्रकार की तन्त्रिकाएँ आपस में भिन्न-भिन्न संयोजन बनाती हैं। ये समूह किसी संचालन अथवा कुंजी-पटल की भाँति व्यवस्थित होते हैं। कुल मिलाकर आठ ऐसे संचालन-पटल हैं — पाँच इन्द्रियों में से प्रत्येक के लिए एक-एक, एक स्मृति एवं पुनरुत्पादन के लिए, एक ऐच्छिक गति के लिए, तथा एक सृजनात्मक कल्पना के लिए।

तन्त्रिका-छोरों का यह समूहीकरण अनुभव के क्रम में निर्मित होता है, और अभ्यास द्वारा इनके उपयोग में दक्षता प्राप्त की जाती है।

इस प्रकार सुसज्जित होकर, कार्यालय में स्थित आत्मा पर्याप्त सुगमता से बाह्य जगत की ओर ध्यान दे पाती है। यह अपनी इन्द्रियों के माध्यम से वस्तुओं की प्रकृति जानती है; और यह अपने अंगों की गतियों के माध्यम से — जिन्हें यह गतिक तन्त्र के संचालन-पटल के माध्यम से इच्छानुसार आरम्भ करती है — स्वयं को बाह्य प्रकृति के साथ शारीरिक रूप से सम्पर्क में स्थापित करती है।

स्मृति मुख्यतः दो प्रकार की होती है: स्मरण (रिकलेक्शन) और पुनरावृत्ति (रिपिटीशन)। पहली में किसी अनुभव अथवा प्रस्तुति (प्रज़ेंटेशन) का पुनः स्मरण करना शामिल है; दूसरी कण्ठस्थ किए गए किसी पाठ अथवा स्वतः सम्पन्न होने वाली शारीरिक गतियों की पुनरावृत्ति है।

मध्य क्षेत्र में स्थित यह अष्ट-कुंजी-पटल 'मन का केन्द्रीय अंग' कहलाता है। यह स्मृति का आधार है। जो जीव इससे सम्पन्न नहीं हैं, वे स्मरण-शक्ति से रहित हैं। उनमें अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता नहीं होती, और वे केवल वर्तमान में ही जीते हैं। वे पुकारे जाने पर भी प्रतिक्रिया नहीं देंगे। प्रत्यक्ष-ज्ञान और स्मरण में यह अन्तर

है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में वह संवेदी उद्दीपन, जो मन से कोई विचार अथवा चेतना की अवस्था उद्भूत करता है, बाहर जगत से उत्पन्न होता है, जबकि स्मरण में वह भीतर से उत्पन्न होता है। मन में स्थित संवेदी समूहों का कुंजी-पटल ठीक उसी प्रकार का उद्दीपन उत्पन्न करने में सक्षम है जैसा बाह्य जगत से आता है, और चेतना उसके प्रति ठीक उसी प्रकार अनुक्रिया करती है जैसे वह वास्तविक प्रत्यक्ष-ज्ञान में करती है। यही कारण है कि स्मरण उतना ही सजीव और ताज़ा हो सकता है जितना प्रत्यक्ष-ज्ञान। तन्त्रिका-छोरों का यह अष्ट-कुंजी-पटल 'आठ पंखुड़ियों वाला कमल' अथवा द्रव्य-मन (मन का भौतिक अंग) कहलाता है। यह न तो आत्मा है, न स्वभाव से चेतनायुक्त है। यह सूक्ष्म पुद्गल से बना है, और मात्र आत्मा के उपयोग हेतु एक उपकरण है।

अध्याय १५

विचारों का साहचर्य

विचार अपनी विषय-वस्तु अथवा अन्तर्निहित अर्थ की दृष्टि से सरल अथवा जटिल हो सकते हैं, यद्यपि अपने द्रव्यात्मक आधार की दृष्टि से वे सभी सरल होते हैं।

जटिल विचार सरल तत्त्वों में विश्लेषित किए जा सकते हैं, किन्तु उन्हें अंशों में तोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि टुकड़ों में विभक्त कोई विचार केवल निरर्थकता होगा। मैं इस क्षण जिस काग़ज़ पर यह लिख रहा हूँ, उसे नष्ट कर सकता हूँ, किन्तु मेरे लिए अथवा किसी अन्य के लिए — सम्पूर्ण जीवित और मृत प्रकृति के लिए भी — मन में उसके चेतन प्रतिरूप को नष्ट करना असम्भव है! सत्य यह है कि कोई विचार जितना उत्पन्न अथवा निर्मित किए जाने में असमर्थ है, उतना ही नष्ट किए जाने में भी। जटिल विचार किसी विद्यमान विचार में अंशों को जोड़कर नहीं बनते; वे मन में विद्यमान रहते हैं और सरल विचारों की भाँति ही आह्वान किए जाते हैं। मान लीजिए कोई लड़की गुड़िया को वस्त्र पहनाने जा रही है। वह पहले-पहल केवल एक नग्न गुड़िया अपने हाथ में लेती है, जब उसके मन में भी उस विशेष गुड़िया का नग्नावस्था में विचार विद्यमान होता है। तत्पश्चात् वह गुड़िया को एक बनियान (अंडरवेस्ट) पहनाती है। अब, बाहर, पदार्थ और बल के जगत में, गुड़िया वही रहती है; किन्तु मन में पहली गुड़िया पूर्णतः लुप्त हो जाती है, और उसके स्थान पर बिलकुल नया विचार आ जाता है, जो बनियान पहने हुए तैयार है और लड़की की गुड़िया से पूर्णतः वैसा ही साम्य रखता है जैसा पहला रखता था। इस प्रकार जब भी गुड़िया पर कोई वस्त्र चढ़ाया जाता है, मन में सर्वथा एक नया विचार प्रकट होता है, और पुराना पूर्णतः अवचेतन में चला जाता है।

यही परिघटना तब भी होती है जब कोई किसी ऐसे भवन को देखता है जिसे तोड़ा जा रहा हो। बाहर जगत में भवन वही रहता है और खण्ड-खण्ड करके गिराया जाता है। किन्तु मन में विध्वंस की कोई प्रक्रिया नहीं हो रही होती, और न हो सकती है। वहाँ प्रत्येक क्षण एक नया चित्र उभरता है, जो परिवर्तनशील उद्दीपन के अनुरूप आने वाले दूसरे चित्र द्वारा प्रतिस्थापित हो जाता है। यहाँ तक कि जब आप अपने सामने खड़े किसी भवन को

देखते हैं, तब भी आप लगातार दो क्षणों तक भी अपने मन में वही मानसिक चित्र धारण नहीं करते; उद्दीपन निरन्तर बना रहता है, और चेतना की अनुक्रिया भी क्षण-प्रतिक्षण निरन्तर बनी रहती है। मानसिक चित्र की स्थिरता का यह भ्रम बाहर जगत में वस्तु की स्थिरता की समानता से उत्पन्न होता है।

इस प्रकार जटिल विचार वास्तव में अपनी प्रकृति में सभी सरल ही हैं। किन्तु जहाँ तक स्मृति-निर्माण का प्रश्न है, संगतियाँ (एसोसिएशंज़) उन तन्त्रिका-तन्तुओं के समूहीकरण से बनती हैं जिनके प्रतिनिधि मन के केन्द्रीय अंग में स्थित हैं। चूँकि तन्त्रिकाएँ चेतना की अवस्थाओं (विचारों) के समान सरल वस्तुएँ नहीं हैं, अतः यदि गुड़िया को वस्त्र पहनाने वाली लड़की को बाद में उसकी अनुपस्थिति में उसका विचार स्मरण करना हो, तो तन्त्रिका-तन्तुओं का एक वास्तविक समूहीकरण अवश्य होना चाहिए। प्रत्यक्ष-ज्ञान और स्मरण में संवेदी तन्त्रिकाओं की भूमिका समान है; वे कम्पनात्मक क्षोभ को मन तक ले जाती हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में उद्दीपन बाहरी जगत में उत्पन्न होता है, किन्तु स्मरण में यह संवेदी केन्द्रों में ही, इच्छा-शक्ति के किसी सक्रिय आवेग के प्रभाव में, उत्पन्न होता है।

स्मरण प्रायः प्रत्यक्ष-ज्ञान की तुलना में फीका और नीरस क्यों प्रतीत होता है, इसका कारण केवल यह है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में वस्तु इन्द्रियों की ओर उद्दीपनों की एक सतत धारा भेजने के लिए वहाँ उपस्थित रहती है, जबकि स्मरण क्षणभंगुर होते हैं। वस्तु इसके अतिरिक्त प्रेक्षक में सुखद और दुखद भावनाएँ भी जगाने में समर्थ होती है, किन्तु स्मृतियाँ मात्र स्मृतियाँ ही मानी जाती हैं और स्वयं सुख अथवा दुख देने में असमर्थ होती हैं।

तन्त्रिका-द्रव्य में समूहीकरण यन्त्रवत् रूप से बनता है। कुछ तन्त्रिकाएँ पहले वस्तु — उदाहरणार्थ, अनवस्त्र गुड़िया — का प्रभाव मन तक ले जाती हैं; तत्पश्चात्, जैसे-जैसे वस्त्र पहनाने की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, अन्य तन्त्रिकाएँ भी उनके साथ क्रियाशील हो जाती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न समूह बनते हैं, जो प्रत्येक बाद की पुनरावृत्ति के साथ अधिकाधिक दृढ़ता से परस्पर जुड़ते जाते हैं। इस प्रकार समूहीकृत तन्त्रिका-तन्तुओं के भीतरी छोर मन के केन्द्रीय कार्यालय के संचालन-पटल पर कुंजियों का निर्माण करते हैं, ताकि जब भी उनमें से किसी को दबाया जाए, वह तत्काल वही कम्पनात्मक अनुनाद उत्पन्न कर दे जो प्रत्यक्ष-ज्ञान में उत्पन्न हुआ था,

और इस प्रकार चेतना में सम्बन्धित विचार को उद्बुद्ध कर दे। इसी प्रकार स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं और स्मरण सम्पन्न होता है।

जब पुद्गल का प्रवेश केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान की तुलना में कुछ गहरा होता है, तब आवेग बनते हैं। प्रत्यक्ष-ज्ञान में चेतना की अवस्था केवल संज्ञानात्मक (कॉग्निटिव) होती है, मूल्यांकनात्मक (एप्रीशिएटिव) नहीं। यह केवल वस्तु की प्रकृति जानती है — कि वह बाहरी जगत में काली है या सफ़ेद, कठोर है या कोमल, मीठी है या खट्टी, इत्यादि। यह अभी तक उसका स्वाद लेने अथवा उसका रसास्वादन करने तक नहीं पहुँचती। किन्तु जब यह एक कदम आगे बढ़ती है, और आगत उद्दीपन के लिए स्वयं को और अधिक पूर्णतः खोल देती है, तब यह जान पाती है कि उसका वास्तविक अनुभव सुखद है या दुखद।

तब यह ऐसा कहती है — 'मुझे यह अच्छा लगता है', 'मुझे यह अच्छा नहीं लगता', इत्यादि। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष-ज्ञान में बाह्य उद्दीपन केवल चेतना के द्वार पर दस्तक देता है; भोग अथवा अनुभव में यह और भीतर प्रवेश पा जाता है। एक स्थिति में सम्पर्क केवल सतही होता है; दूसरी में यह अधिक घनिष्ठ होता है। अब यदि संवेदन सुखद है और आत्मा उसे बारम्बार और प्रबलता से चाहती है, तो मन में एक प्रबल आवेग निर्मित हो जाएगा, जो मृत्यु के पश्चात् भी बना रहेगा, जब तक कि ज्ञान द्वारा नष्ट न कर दिया जाए अथवा आत्म-त्यागपूर्ण अनुशासन द्वारा उन्मूलित न कर दिया जाए।

इस प्रकार आत्मा और पुद्गल मिलकर एक आवेग का निर्माण करते हैं; प्रत्यक्ष-ज्ञान अथवा ज्ञान को जन्म देते समय वे ऐसा नहीं करते। आवेग तृप्ति द्वारा दृढ़ होते हैं, जिसका अर्थ है आत्मा में अधिक पुद्गल का प्रवाह। पुद्गल के प्रभाव के बिना वे नहीं बनेंगे। किसी भी प्रकार का सुखद अथवा दुखद अनुभव मन में एक लालसा (एक स्थिति में आकर्षक, दूसरी में विकर्षक) को जन्म देगा। यदि पुद्गल आत्मा से पूर्णतः पृथक् कर दिया जाए, तो आवेग सर्वथा नष्ट हो जाएँगे।

मृत्यु के समय तन्त्रिका-संगतियाँ और समूहीकरण नष्ट हो जाते हैं, किन्तु आवेगों को आत्मा अपने नए 'जीवन' में साथ ले जाती है। सभी आवेग — चाहे सामान्य हों अथवा किसी विशेष जटिल-समूह के

सामान्यीकृत पक्ष हों (जैसे किसी विशेष व्यक्ति के प्रति प्रेम की भावना) — इसी कारण मृत्यु के पश्चात् भी बने रहते हैं। हमें पूर्वजन्म की घटनाएँ स्मरण न रहने का कारण उस विशिष्ट बाह्य उद्दीपन का अभाव है, जो पुराने सुप्त आवेगों को जगाने और उद्बुद्ध करने के लिए आवश्यक है, तथा साथ ही अन्य नई रुचियों की प्रधानता भी है, जो मृत्यु में निहित दृश्य और परिवेश के परिवर्तन के बाद से बन गई हैं। पुराने आवेग सुलगती हुई अग्नि की अवस्था में बने रहने को अभिशप्त होते हैं, और शिक्षा तथा अनुभव के रूपान्तरकारी प्रभाव में समय के साथ बुझ भी सकते हैं, जब तक कि वे भूतकाल के किसी वास्तविक स्मृति-चिह्न के आकस्मिक प्रत्यक्ष-ज्ञान से पुनः जाग्रत न हों, जो कभी मन को प्रबलता से आकर्षित करता था।

इस प्रकार हम अपनी प्रवृत्तियाँ और आवेग पूर्वजन्म से अपने साथ लाते हैं। वे मृत्यु के पश्चात् इच्छा (विलिंग) के रूप में तो बने रहते हैं, किन्तु ज्ञान के रूप में नहीं। अखण्ड आत्म-द्रव्य उन सबमें व्याप्त रहता है, और वे परस्पर व्याप्त रहते हुए इतने अनेक तरल 'विचारों' (अर्थात् मानसिक क्रियाशीलता के रूपों) के रूप में विद्यमान रहते हैं, जो बाह्य जगत की वस्तुओं से स्वयं को तृप्त करने की ताक में रहते हैं। इनका अस्तित्व जगत के ज्ञान की पूर्व-शर्त है। इनके बिना सीमित अहं (फ़ाइनाइट ईगो) को किसी भी वस्तु को जानने के लिए प्रेरित करने वाला कोई प्रोत्साहन नहीं होगा, और आन्तरिक अनुक्रिया के अभाव में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्वयं एक असम्भवता बन जाएगा।

अध्याय १६

स्वप्न और दिव्य-दर्शन

स्वप्न तीन भागों से मिलकर बनते हैं:— (i) दृश्य-प्रकार अथवा परिवेश, (ii) पात्र-वर्ग (पर्सोनेल), तथा (iii) उद्देश्य (किसी इच्छा की तृप्ति)।

इनमें से पहला उद्दीपन के प्रकार से निर्धारित होता है, जैसे तीव्र शीत का संवेदन शीत जलवायु, गिरती हुई बर्फ़ आदि के दृश्य उत्पन्न करेगा। दूसरा तत्त्व व्यक्ति के प्रमुख विचारों के अग्रणी पात्रों से निर्धारित होता है, अर्थात् सचेत विचार के उस अवशेष से जो इच्छा-शक्ति को उद्वेलित करने में समर्थ है।

तीसरा वास्तव में स्वप्न के पीछे की प्रेरक शक्ति है, क्योंकि किसी सक्रिय आवेग के बिना मानसिक प्रक्रियाएँ चल नहीं सकतीं।

संवेदन स्वप्न का आरम्भ-बिन्दु है। यह बाह्य कारण से उत्पन्न हो सकता है अथवा शरीर के भीतर से उत्पन्न हो सकता है। इसे किसी मानसिक आवेग द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो सामान्यतः कोई हठी और दमित आवेग होता है। तत्पश्चात् तन्द्रामय चेतना में तीव्र विचारों की एक श्रृंखला उत्पन्न होती है। इस मानसिक नाट्य के पात्र वे होते हैं जो हाल ही में व्यक्ति की चेतना में प्रमुख रहे हों, और जो प्रेरक आवेग की तृप्ति से सम्बद्ध हों अथवा हो सकते हों। किन्तु उनकी भूमिकाएँ प्रायः विकृत हो जाती हैं, उस दमन के कारण जिसके अधीन उस इच्छा को रखा गया हो।

दिव्य-दर्शन (विज़न्ज़) भी उसी प्रकार अनुभव में आते हैं, सिवाय इसके कि जो आवेग अथवा इच्छा उस विचार-श्रृंखला की जनक होती है, वह किसी शारीरिक नहीं, अपितु एक उदात्त नैतिक लालसा होती है। कोई साधारण शारीरिक संवेदन, और कभी-कभी सम्भवतः स्वयं उस नैतिक लालसा की हठधर्मिता ही, उस मानसिक धारा को गति में ला देगी। रूपकीकरण (एलेगोराइज़ेशन) सम्भवतः मन की उस आदत से उत्पन्न होगा जो काव्यात्मक रूपक में आनन्द लेती है।

अध्याय १७

पहचान (रिकग्निशन)

❊

ज्ञान एक व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) परिघटना है। इसका अर्थ है किसी व्यक्तिगत चेतना द्वारा जाने जाने वाली एक व्यक्तिपरक अवस्था। जानने वाली चेतना ज्ञान के कार्य में स्वयं को वस्तुतः ज्ञाता के रूप में अनुभव करती है। यह इस कथन में निहित से कहीं अधिक है: 'एक वस्तु है (जैसे, एक संतरा)।' यह वस्तुतः इस निहितार्थ के बराबर है: 'मैं वस्तु को जानता हूँ', अर्थात् 'मैं संतरे का प्रत्यक्ष-ज्ञान करता हूँ।' 'मैं' तथापि अपनी ही चेतना के समक्ष विरल ही, यदि कभी हो भी, प्रमुखता से रहता है; केन्द्रीय स्थान संज्ञान की वस्तु को दिया जाता है। सुख और दुख की अनुभूति के साथ भी यही स्थिति है। ऐसा नहीं है कि हम उनके प्रति चेतन हो जाते हैं मानो वे हमसे सम्बद्ध ही न हों। हम उन्हें इसलिए जानते हैं क्योंकि वे वस्तुतः हमें प्रभावित करते हैं। जब कोई पशु भी पीड़ा से पीड़ित होता है, तब उसकी व्यथा का सचेत निहितार्थ वस्तुतः केवल यही है — 'मैं पीड़ा में हूँ।' अतः ज्ञान, प्रत्यक्ष-ज्ञान और अनुभूतियाँ अवचेतन रूप से उसी चेतना की ओर वापस निर्देश करती हैं जिसमें वे उत्पन्न होती हैं, जिसके द्वारा वे अनुभव की जाती हैं। स्मृति भी इस नियम का अपवाद नहीं है। क्योंकि स्मृति में भी यह अवचेतन ज्ञान निहित है — 'मुझे स्मरण है।' पूर्ण रूप से व्यक्त किया जाए, तो इसका अर्थ केवल यही है — 'मुझे स्मरण है कि मैं जानता था' इत्यादि। पहचान वस्तुतः किसी वस्तु का दूसरा संज्ञान है। यह सादृश्य (सिमिलैरिटी) की रेखा पर हो सकती है, अथवा सामीप्य (कॉण्टिग्युइटी) की रेखा पर। जब मन किसी गुण में रुचि रखता है, तब सादृश्य ही स्मरण की प्रक्रिया का सूचक होता है। जब उसकी रुचि किसी वस्तु के परिवेश में होती है, तब सामीप्य मार्गों के चुनाव को निर्धारित करेगी। दूसरे शब्दों में, जब हम किसी सामान्य विचार पर टिके रहते हैं, तब समान स्मृतियाँ स्मरण में आती हैं, किन्तु जब हम किसी वस्तु पर टिके रहते हैं, तब उसके परिवेश और परिवेश-सम्बन्धी विवरण स्मरण में आते हैं। सादृश्य की संगतियों का निर्माण सर्वप्रथम मानसिक आवेगों का कार्य है; क्योंकि समस्त समानताएँ समान सामान्य गुणों के माध्यम से ही संज्ञात होती हैं। जैसे, हम पहले किसी वस्तु के श्वेत होने का तथ्य श्वेतता के सामान्य विचार की सहायता से जानते हैं; और तत्पश्चात् उस रंग की विशेष छटा को पहचानने का प्रयास करते हैं। मन में ये सभी आवेग दृश्य-वर्ग के अन्तर्गत समूहीकृत हैं,

और उनका प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए एक समान केन्द्र है। और चूँकि सामान्य श्वेतता उन सबमें समान है और सर्वप्रथम ही अनुभव में आती है, अतः उसकी विविधताएँ और छटाएँ स्वाभाविक रूप से उसी के इर्द-गिर्द व्यवस्थित हो जाती हैं। यहाँ तक कि नए बने आवेग भी, चाहे जटिल हों या सरल, इसी कारण मूल सामान्य आवेग के इर्द-गिर्द व्यवस्थित होंगे। सामीप्य के विषय में, यह वस्तुतः प्रथम प्रभाव में ही निहित होता है, किन्तु अवधान के किसी संवेदन के अंश पर केन्द्रित होने से दबा रहता है। अतः यह केवल अवधान की शिथिलता से ही उत्पन्न होता है। किसी वस्तु से परिचय का भाव उसके स्मरण किए गए विवरण की उस वस्तु में सत्यापन (वेरिफ़िकेशन) से उत्पन्न होता है। संज्ञान में विवरण वस्तु से प्राप्त किए जाते हैं; पहचान में वे मन द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं और वस्तु में सत्यापित किए जाते हैं। अतः विवरण का जितना अधिक सत्यापन होगा, परिचय का भाव उतना ही अधिक होगा।

पहचान की प्रारम्भिक अवस्था बाह्य जगत में किसी वस्तु अथवा पदार्थ की किसी मानसिक आवेग द्वारा पहचान है। दूसरी अवस्था मन से विवरण की पुष्टि के साथ पहुँचती है। परिचय की भावना और भी प्रबल हो सकती है यदि वह वस्तु स्मरण करने वाली चेतना के भावनात्मक पक्ष को प्रबलता से आकर्षित करने वाली हो। किन्तु यहाँ तक कि यह परिचय की भावना भी पूर्ण पहचान का निश्चित संकेत नहीं है, जैसा कि गलत पहचान के मामलों से स्पष्ट है, विशेषतः पति-पत्नी जैसे घनिष्ठ और निकट सम्बन्धित व्यक्तियों में।

पहचान की सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता वह रोमांच (थ्रिल) है, जो तब अनुभव होता है जब स्मृति-छाप और बाहरी जगत की वस्तु के बीच लय (रिदम) का मेल हो जाता है।

अध्याय १८

विचारों की धारा

❊

विचार की उत्पत्ति एक मानसिक आवेग से होती है। मानसिक आवेग सचेत मन की एक ऐसी वृत्ति है जो किसी लक्ष्य की खोज में रहती है। अतृप्त इच्छाओं का अवशेष ही मानसिक आवेगों का आधार है।

विचारों की एक धारा में मानसिक अवस्थाओं — विचारों अथवा उदीयमान संवेदनों — की एक शृंखला होती है, जो तब तक चलती रहती है जब तक लक्ष्य प्राप्य प्रतीत न हो, अथवा जब तक कोई अन्य विचार-धारा — किसी भिन्न मानसिक आवेग का अनुसरण करते हुए — अथवा क्रिया या निद्रा उसे बाधित न कर दे।

विचार तथा उदीयमान संवेदन आन्तरिक उद्दीपन द्वारा, मन के मध्य क्षेत्र में स्थित संवेदी संचालन-पटल की सहायता से, स्मरण में लाए जाते हैं। इन 'कुंजियों' (समूहों) को गति में लाया जाता है और इनका क्षोभ आत्मा द्वारा भूतकाल में अनुभव की गई चेतना की अवस्थाओं को पुनः जाग्रत कर देता है। यदि मन किसी संवेदन के गुण पर टिका रहे, तो समान संवेदन स्मरण में आएँगे; यदि यह अनुभव के बाह्य परिवेश पर ध्यान दे, तो सामीप्य स्मृति का मार्गदर्शक सिद्धान्त होगी।

चिन्तन प्रत्यक्ष-ज्ञान के किसी भी केन्द्र में सम्पन्न नहीं किया जा सकता; यह केवल उन सामान्य विचारों के माध्यम से किया जा सकता है, जो मन के मध्य क्षेत्र में प्रचलित होते हैं।

प्रत्यक्ष-ग्राही केन्द्र ठोस यथार्थ अथवा विशिष्ट प्रभावों के पुनरुत्पादन को सम्भालने के लिए अनुकूलित हैं, न कि सामान्य विचारों के लिए।

अध्याय १९

निषेध (इनहिबिशन)

❊

चेतना का कार्य-साधक उपकरण 'अवधान' नामक बुद्धि की वह छोटी-सी किरण है। यह एकात्मक और अविभाज्य है, फिर भी अहंकार के समस्त बहुविध और असंख्य आवेगों में वितरित रूप से स्थित है, यद्यपि यह स्वयं आत्मा का ही एक पक्ष है, जो अखण्ड है और उसकी प्रत्येक लालसा एवं आकांक्षा के पीछे विद्यमान रहता है।

सम्पूर्ण जीव-यन्त्र में सर्वाधिक तीव्रता से सचेत यह बिन्दु सहज बुद्धि से जगमगाता और चमकता है, यद्यपि यह अभी तक आवेगों के प्रभुत्व से मुक्त नहीं हुआ है। यह वहीं मुड़ता है जहाँ आवेग इसे ले जाते हैं, और उस समय मानसिक क्षेत्र पर अधिकार जमाए सबसे प्रबल लालसा द्वारा यह अपने वश में कर लिया जाता है। शेष आवेग तब स्वतः शान्त हो जाते हैं, क्योंकि अवधान की एकात्मक क्रिया एक ही बिन्दु है, न कि बिन्दुओं का समूह। किन्तु अवधान किसी भी आवेग के क्षोभ को जान-बूझकर, उसके प्रभाव में आने से इनकार करके, अवरुद्ध करने में भी सक्षम है। यह बाह्य जगत से पूर्णतः अपने को समेट भी सकता है, और अपने ही स्वभाव के अध्ययन में रुचि लेने लगता है, जब बाहर की ओर उन्मुख इन्द्रियों में से कोई भी अपना कार्य नहीं करेगी। किसी विषय में — यहाँ तक कि किसी बाह्य विषय में भी — गहन तल्लीनता का प्रभाव यह है कि उस विषय से सम्बद्ध बातों को छोड़कर सम्पूर्ण संवेदी क्रिया रुक जाती है। संसदीय एवं मंचीय वक्ताओं के बारे में यह ज्ञात है कि वे अपने श्रोताओं के समक्ष उत्साहपूर्वक वाक्-प्रवाह की धाराएँ उड़ेलते समय शारीरिक पीड़ा के प्रति असंवेदनशील रहे हैं। इस सबका स्पष्टीकरण चेतन जीवन की एकता में निहित है, जो केवल अखण्ड अवधान के साथ ही कार्य करता है और कर सकता है।

परस्पर विरोधी आवेगों को भी — जैसे स्थिर खड़े रहना और दौड़ना — घटित होने पर परस्पर एक-दूसरे को अवरुद्ध करना ही होगा, क्योंकि एक ही समय पर कोई भी दो विरोधी कार्य नहीं कर सकता।

चिन्तन (रिफ्लेक्शन) और क्रिया के बीच का विरोध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्द्रियों की क्रियाशीलता पर इसका प्रभाव पहले ही देखा जा चुका है। किन्तु यह हमारे ज्ञान को भी प्रभावित करता है। आवेगों में निहित सामान्य विचार, जो इच्छा-शक्ति के इच्छा के अधीन रहने पर लालसाओं के रूप में विद्यमान होते हैं, चिन्तन में अवधान के संलग्न होने पर स्थिर हो जाते हैं। जीवन की प्रवृत्तियों की धारा तब सचमुच अपने ऊपर ही प्रतिबिम्बित (रि, वापस, और फ्लेक्सियो, मुड़ना) हो जाती है, और ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान हमारे आवेगों द्वारा क्रिया में द्रवित (लिक्विफ़ाइड) कर दिया जाता है, और चिन्तन द्वारा विचारों में क्रिस्टलीकृत (क्रिस्टलाइज़्ड) कर दिया जाता है।

स्मृति का वह अन्तिम रूप, जो तन्त्रिका-सम्बन्धों तथा समूहीकरणों से, और बाह्य उद्दीपन से भी स्वतन्त्र है, आवेगों में सामान्यीकृत अनुभवों के रूप में भी सुरक्षित रहता है। इसे, यों कहें कि निक्षेपण (प्रेसिपिटेशन) के मार्ग से चिन्तन में पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

जब आवेग सर्वथा समाप्त हो जाते हैं, और लालसाओं का क्षोभ सदा के लिए दूर हो जाता है, तब समस्त ज्ञान — जो अभी पुद्गल के नीचे ढका हुआ और व्यक्तिगत लालसाओं द्वारा द्रवित है — स्थिर हो जाएगा, और सदा के लिए उपलब्ध बना दिया जाएगा। आत्मा तब उतार-चढ़ावों के अधीन नहीं रहेगी, और अक्षोभ्य स्थिरता तथा दृढ़ता को प्राप्त होगी। क्योंकि आत्मा और ज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं, अतः ज्ञान की स्थिरता वास्तव में आत्मा की ही स्थिरता है।

अध्याय २०

गति-तन्त्र (मोटर मेकैनिज़्म्ज़)

❊

ऐच्छिक गति के नियन्त्रक मन के केन्द्रीय अंग में स्थित कुंजी-पटल द्वारा नियन्त्रित होते हैं। ये गतिक तन्त्रिका-छोरों द्वारा जीवन के आरम्भिक काल में ही निर्मित होते हैं। अपनी 'दंश करने वाली' सहज-प्रवृत्तियों (इंस्टिंक्ट्स) से प्रेरित होकर, बालक क्षोभ की एक अवस्था में डाल दिया जाता है, जो स्वतः उसके शारीरिक अंगों तक संचारित हो जाती है, और वह शीघ्र ही अपने हाथों, पैरों और मुख की उपयोगी गतियों का प्रभाव तथा विधि सीख लेता है। इन्हीं गतियों के क्रम में गति की तन्त्रिकाओं का आन्तरिक समूहीकरण बनता है, और यथासमय मन के केन्द्रीय कार्यालय में एक नियमित कुंजी-पटल निर्मित हो जाता है। आत्मा किसी घर में रहने वाले किरायेदार के समान नहीं है, और अपने शरीर में गति करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। यह पुद्गल से अत्यन्त कसकर बँधी हुई है, और अपने बन्धन में तनिक भी घूम नहीं सकती। चूँकि यह इस प्रकार गति के नियन्त्रकों के आन्तरिक छोरों से बँधी हुई है, इसीलिए इच्छा-शक्ति का प्रत्येक वास्तविक कार्य (मात्र विचार-विमर्शात्मक क्रियाशीलता नहीं) तत्काल शरीर का भी कार्य बन जाता है।

इच्छा-शक्ति के आवेग, संचालन-पटल की कुंजियों पर आघात करते हुए, इसे अपने हाथों-पैरों को तथा सामान्यतः शरीर के अंगों की मांसपेशियों को गति देने में समर्थ बनाते हैं, तथा वांछित गतियाँ उत्पन्न करते हैं। क्रिया प्रत्यक्ष-ज्ञान का अन्तिम परिणाम है। यह विकर्षक अथवा आकर्षक क्रिया हो सकती है — किसी अप्रिय अवांछित वस्तु को दूर हटाना, अथवा किसी वांछित और इच्छित वस्तु को और निकट संपर्क में लाना। शुद्ध, निःस्वार्थ प्रत्यक्ष-ज्ञान केवल उच्चतर सन्तों के लिए ही सम्भव है। जीवन के निम्नतर स्तरों में, जो केन्द्रीय मानसिक तन्त्र से रहित हैं, प्रत्यक्ष-ज्ञान और क्रिया सीधे परस्पर जुड़े रहते हैं; मार्गों के चुनाव का सर्वथा अभाव रहता है। मनुष्य तथा उच्चतर पशु-जीवन में, मन के केन्द्रीय अंग की उपस्थिति सारा अन्तर उत्पन्न कर देती है। वे स्वतः सम्पन्न होने वाली गतियों द्वारा उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया करने में समर्थ होते हैं, और साथ ही वे अभ्यास

की स्वचालितता को स्थगित करने तथा जान-बूझकर उसके स्थान पर अन्य विधियाँ अपनाने में भी सक्षम होते हैं। उद्दीपनों के प्रति अनुक्रिया का निम्नतम रूप प्रतिवर्ती (रिफ्लेक्स) क्रिया के रूप में होता है।

यहाँ आपको सहज चुनाव का सबसे प्रारम्भिक (अस्पष्ट) रूप मिलता है — (भोजन को) ग्रहण करना अथवा (ख़तरे से) उड़ जाना। उच्चतर स्तर पर, एक से अधिक गतियों का चुनाव होता है। अनुक्रिया अब आवश्यक रूप से स्थानीय नहीं होती; इसमें मेरुदण्ड-स्तर की गतियाँ भी सम्मिलित हो सकती हैं। सबसे उच्चतम प्रकरण में, अनुक्रिया जान-बूझकर की जाती है, केवल जन्मजात रूप से निर्धारित नहीं होती।

अपने आठ-पंखुड़ियों वाले संचालन-पटल के साथ आत्मा एक संवेदी-गतिक (सेन्सरी-मोटर) जीव-यन्त्र है, जो अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने में समर्थ है। अपनी सहज-प्रवृत्तियों के नेतृत्व में, यह जीविका और जगत की अच्छी वस्तुओं की खोज में घूमती-फिरती है। यह स्वयं के लिए सोचने को स्वतन्त्र है; किन्तु सदैव उस प्रकार कार्य करने को स्वतन्त्र नहीं है। समाज के एक सदस्य के रूप में इसे सामाजिक परम्पराओं का पालन करना पड़ता है, और कभी-कभी दूसरों की केवल पाशविक शक्ति के आगे भी झुकना पड़ता है। कभी-कभी यह ऐसी इच्छाएँ रखती है जो तृप्त नहीं की जा सकतीं, अथवा जो घृणित और वर्जित हैं। उन्हें दमित करना पड़ता है। किन्तु तीव्र इच्छाएँ सरलता से दमित नहीं होतीं। वे दमन से विकृत हो जाती हैं, और सतह के नीचे छद्म रूप में विद्यमान रहती हैं। उनकी संगतियाँ भी उनके दमन और विकृति से प्रभावित हो जाती हैं, और गतिक अनुक्रियाएँ भी इससे प्रभावित होती हैं। इस प्रकार अवचेतन के क्षेत्र में बड़ी असामान्यता विद्यमान हो जाती है, जो सबसे बुरे मामलों में मानसिक विक्षिप्तता (मेंटल डिरेंजमेंट) के रूप में भी प्रकट हो सकती है। इस असामान्यता की झलकें व्यक्तिगत आचरण की विसंगतियों में भी देखी जा सकती हैं। इन असामान्य अतिभारित भावनाओं की अन्तर्धाराएँ सामान्यतः जाग्रत अवस्था में नियन्त्रण में रखी जाती हैं; किन्तु स्वप्नरत मन की तन्द्रामय चेतना के लिए ये जाँच पाना कठिन हो जाती हैं। तब वे स्वयं को कुछ छद्म रूप देकर सेन्सर (निषेधक) की सीमा को सरलता से लाँघ सकती हैं। यही कारण है कि स्वप्न सामान्यतः दमित इच्छाओं की पूर्ति के इर्द-गिर्द केन्द्रित पाए जाते हैं। यही कारण है कि असामान्य व्यक्ति सामान्य हो जाते हैं यदि वे प्रारम्भिक दमित 'भाव' की उत्पत्ति का स्मरण करें, और किसी के सामने अपना मन हलका कर लें। स्पष्टीकरण सरल है:

दमन, जिसका अर्थ है दूसरों की राय के भय से किसी लालसा को दबा देना, तब समाप्त हो जाता है जब हृदय किसी के सामने हलका कर दिया जाता है, ताकि उस बल के मिटते ही संगतियों की असामान्यताएँ — संवेदी और गतिक दोनों — भी मिट जाएँ, जिसने उन्हें उत्पन्न किया था।

अध्याय २१

सुख और दुख

सुख तीन प्रकार का है, और दुख दो प्रकार का। सुख के तीन प्रकार हैं: (1) शारीरिक, (2) मानसिक, और (3) आध्यात्मिक। दुख के दो प्रकार हैं: (1) शारीरिक और (2) मानसिक। आध्यात्मिक दुख जैसी कोई वस्तु नहीं है।

शारीरिक और मानसिक सुख दोनों संवेदी प्रकार के हैं; वे इन्द्रियों के कार्य पर अथवा इन्द्रियों के कार्य के स्मरण पर निर्भर करते हैं।

दुख के विषय में भी यही स्थिति है। यह या तो वास्तविक होता है अथवा कल्पित, अर्थात् स्मृति अथवा कल्पना की, किसी विचार-धारा में, उपज। इन्द्रियों से परे न तो सुख विस्तृत हो सकता है, न दुख। आध्यात्मिक सुख उस मुक्ति की भावना अथवा भाव है, जो आत्मा से किसी बोझ के हटने पर अनुभव होता है। एक भावना के रूप में यह इन्द्रियों से स्वतन्त्र है। जो विद्यार्थी अपनी परीक्षा में सफलता की सूचना पाकर हर्षित होता है, वह इसी भावना का अनुभव करता है। यह इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि इच्छा-शक्ति पर आरोपित चिन्ता और बोझ का भार उतर जाता है। यदि इसके साथ मानसिक चित्र उत्पन्न हों, तो इसका प्रकार तत्काल मानसिक सुख में परिवर्तित हो जाएगा। दुख तथा उसके रूपान्तर सदैव शारीरिक अथवा मानसिक होते हैं; यह वह बोझ ही है जिसे वहन करना होता है, अथवा उसका मानसिक चित्र, टूटी हुई आशाओं का दृश्य अथवा चिन्तन, और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ, जिनमें उनका कारण खोजा जाना चाहिए। अवसाद (डिप्रेशन), मुक्ति के आनन्द के विपरीत, इस प्रकार सदैव विचारों द्वारा उत्पन्न होता है। मुक्ति, अर्थात् आनन्द, समस्त विचारों से पूर्णतः स्वतन्त्र है, और एक शुद्ध भावना अथवा अनुभूति है। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सफलता का सन्देश चाहे कितनी ही अशिष्ट भाषा में लिखा गया हो; उसकी शैली कान को कितनी ही आपत्तिजनक क्यों न हो; जिस सामग्री पर वह लिखा गया हो, वह कितनी ही मैली चीथड़ी क्यों न हो; स्याही कितनी ही गन्दी और भद्दी क्यों न हो; जो व्यक्ति उसे पहुँचाता है, वह स्वयं सम्पूर्ण जगत में कितना ही तुच्छ और आपत्तिजनक दिखने

वाला क्यों न हो — इन सबके बावजूद, जिस क्षण मन उस सूचना पर विश्वास कर लेता है, हृदय में आनन्द की भावना उठ खड़ी होगी। इसका कारण यह है कि जो नेत्र सुन्दर वस्तुओं को देखकर आनन्दित होती है और कुरूपता, गन्दगी तथा मैल से घृणा करती है, वह आनन्द का आसन नहीं है। यह केवल संवेदनाएँ उत्पन्न कर सकती है, चाहे वे सुखद हों या अप्रिय। इसी प्रकार आनन्द की भावना की उत्पत्ति में कान का भी कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि यह उस माध्यम के रूप में कार्य करता है जिससे सफलता की सूचना आत्मा तक ध्वनियों के रूप में पहुँचाई जाती है। कान की विशेषता यह है कि वह कोमल, मधुर, सुरीली, रजतमय ध्वनियों को सुनने में आनन्द लेता है, और कठोर, कर्कश तथा कर्णकटु स्वरों से आहत होता है। किन्तु जो स्वर सफलता के समाचार का संचार करता है, वह सबसे कर्कश हो सकता है, उसके सुर सबसे कठोर हो सकते हैं, उसकी पिच अत्यन्त कष्टप्रद हो सकती है, फिर भी, इन सबके बावजूद, जिस क्षण उस सन्देश को सत्य मान लिया जाता है, हृदय में आनन्द की वह विशेषता-भावना उठ खड़ी होगी! यह इस बात के लिए पर्याप्त है कि आनन्द (मुक्ति) की भावना कोई संवेदन नहीं है, और यह इन्द्रियों से स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होती है। चिन्ता की पूर्ण समाप्ति, अथवा यों कहें कि उसका उन्मूलन, इस प्रकार आनन्द की अभिव्यक्ति का अवसर बनता है।

यह समाप्ति स्वयं बाह्य कारणों से हो सकती है, उदाहरणार्थ किसी उद्यम में सफलता से, अथवा यह उस उद्यम के ऐच्छिक परित्याग से उत्पन्न हो सकती है, न कि उसके मात्र स्थगन से। क्योंकि चिन्ताओं का स्थगन उनकी समाप्ति के समान नहीं है। स्थगन में मानसिक तनाव से राहत मिल सकती है, किन्तु आत्मा के जन्मजात, अन्तर्निहित आनन्द से नहीं। यह एक चिन्ता-समूह (वरी-कॉम्प्लेक्स) के विस्फोट होकर उड़ जाने के समान है।

यदि यह अभिव्यक्ति स्वीकार्य हो, तो यह उस स्वाभाविक उल्लास को लाता है जो भीतर दबा हुआ पड़ा था और अब स्वयं को प्रकट करता है। इस अर्थ में प्रत्येक प्रवृत्ति एक चिन्ता-समूह है। जब यह पूर्ण रूप से क्रियाशील होती है, तब अवसाद (डी-प्रेशन — 'डे' अर्थात् नीचे और 'प्रेसम' अर्थात् दबाना) अनुभव होता है, जो सबसे बुरे मामलों में अत्यन्त तीव्र हो सकता है; जब अवसादकारी तत्त्व नष्ट कर दिए गए हों, तब आनन्द (डिलाइट — 'डे' अर्थात् प्रबल और 'लाइट' अर्थात् हल्कापन) अनुभव होता है।

इस प्रकार किसी प्रवृत्ति के मूल में निहित सामान्य विचार भी अपने अन्तर्निहित स्वभाव में एक प्रकार का आनन्द ही है। यह उस सूक्ष्म अदृश्य पुद्गल के भार के नीचे दबा हुआ पड़ा है, जो इच्छा के साथ, विशेषतः चिन्ता के साथ, आत्मा में प्रवाहित होता है। इच्छा के ऐच्छिक परित्याग, अर्थात् 'त्याग' के द्वारा, ये सामान्य विचार (जिनके समुच्चय को ज्ञान कहते हैं) उस पुद्गल के भार से मुक्त किए जा सकते हैं, जिसके नीचे वे अवरुद्ध और दबे रहते हैं, और तृप्ति-चाहने वाली, चिन्ता-उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाते हैं। पुद्गल के इस भौतिक साहचर्य के बिना आत्मा के लिए कोई प्रवृत्तियाँ नहीं रह सकतीं; जिस क्षण वे उन भौतिक विकारों से मुक्त कर दी जाती हैं, जिनसे अभी वे अभिभूत हैं, वे सभी ज्ञान बन जाएँगी।

चिन्ता का आत्मा की स्वाभाविक उल्लासशीलता को दबाने वाला प्रभाव ध्यान देने योग्य है। ऐसा नहीं है कि केवल बड़े उद्यम अथवा वस्तुएँ ही सबसे बड़ी चिन्ताएँ उत्पन्न करती हैं। एक छोटी-सी वस्तु — यहाँ तक कि दो या तीन इंच चौड़ा और अठारह इंच लम्बा कपड़े का एक टुकड़ा (लंगोटी) भी — किसी को पर्याप्त रूप से व्याकुल करने और आनन्द की अभिव्यक्ति को धूमिल करने के लिए पर्याप्त चिन्ता उत्पन्न कर सकता है। सच्चा आनन्द, अतः, तभी अनुभव किया जा सकता है जब सभी इच्छाएँ हृदय से सदा के लिए चली जाएँ। इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग पदार्थ के साहचर्य से पूर्णतः मुक्त हैं, वे निरन्तर और बिना किसी प्रयास के प्रत्येक प्रकार के विचार के मुक्त-क्रियाशील आनन्द का भोग करते हैं, जो अब इच्छा, चिन्ता अथवा पदार्थ के प्रभाव से अनाच्छादित है! आनन्द, आत्मा से सम्बन्धित हर अन्य वस्तु के समान, एक सरल, अर्थात् असंयुक्त अवस्था है। यह अंशों से नहीं बना, न ही पदार्थ के कणों अथवा किसी अन्य द्रव्य के कणों से संयोजित है। इससे सम्बद्ध किसी अंश अथवा कण की कल्पना नहीं की जा सकती।

अविनाशी और अनुत्पन्न, यह अवश्य ही सदैव से रहा होगा — प्रकट रूप में नहीं, अपितु अप्रकट अवस्था में, किसी शत्रुतापूर्ण भौतिक अभिकर्ता के दमनकारी आलिंगन में बन्द रहकर। किसी भौतिक अभिकर्ता के अतिरिक्त कुछ भी किसी कार्य को दबाए रखने, अथवा किसी स्वाभाविक अवस्था या स्थिति को अप्रकट बनाए रखने में समर्थ नहीं है।

चिन्ता-समूह का विघटन मन के केन्द्रीय अंग में होता है, क्योंकि अन्य भागों में पुद्गल का आवरण सामान्य परिस्थितियों में पूर्णतः नष्ट किए जाने के लिए बहुत गाढ़ा होता है। अधिक निश्चित शब्दों में, यह अवधान ही है जिसमें उस प्रकार तनाव की शिथिलता सम्पन्न होती है। यह इस तथ्य की भी व्याख्या करता है कि जैसे ही अवधान किसी अन्य चिन्ता-समूह के लक्ष्य की प्राप्ति में पुनः संलग्न होता है, आनन्द का उल्लास तत्काल खो जाता है।

शारीरिक सुख जीव-यन्त्र की स्वस्थ अवस्था का अथवा बाह्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न सुखद प्रभाव है। शारीरिक दुख इसका विपरीत है। यदि आत्मा शरीर से मुक्त हो, तो सुख और दुख दोनों असम्भव होंगे। किन्तु आध्यात्मिक आनन्द अनन्त होगा — समस्त देह के त्याग से, जो कि समस्त उपद्रवों का मूल स्रोत है, वह और भी तीव्र हो जाएगा!

आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जो अपने परिणमनों (मॉडिफ़िकेशंज़) को अनुभव कर सकता है। जब ये परिणमन अनुकूल होते हैं, तब वे सुख का निर्माण करते हैं; जब वे प्रतिकूल होते हैं, तब उन्हें दुखद कहा जाता है। जब बाह्य प्रभावों के अधीन परिणमन समाप्त हो जाते हैं, तब यह केवल अपनी स्वाभाविक अवस्था को ही अनुभव कर सकती है। परिणमनों के प्रवेश के लिए इसकी अनुभूति की एक स्वाभाविक अवस्था होनी ही चाहिए। जिस द्रव्य में अनुभव करने की क्षमता ही नहीं, उसे कुछ भी अनुभव कराया ही नहीं जा सकता, सुख-दुख तथा सुखानुभूति तो दूर की बात है।

आत्मा की सहज स्वाभाविक अनुभूति आनन्द ही है, जो बाह्य बोझों के नीचे दबी हुई है। जब बाहरी बोझ अस्थायी रूप से उठा लिए जाते हैं, तब इस स्वाभाविक आनन्द की झलकें मुक्ति की भावना के रूप में पकड़ में आ जाती हैं। जब वे पूर्णतः हटा दिए जाते हैं, तो यह शाश्वत मुक्ति की अवस्था में रह जाती है। तब यह सुख का एक सतत, अनन्त उत्सव होगा, जिसका आत्मा भोग करेगी!

समस्त बाह्य वस्तुएँ चिन्ता के सशक्त कारण हैं, अतः प्रकृति से आत्मा के लिए एक बोझ हैं। उन्हें प्राप्त, सुरक्षित और बनाए रखना पड़ता है, तथा खो जाने पर पुनः प्राप्त करना पड़ता है। जब मन जान-बूझकर उनके

प्रति आसक्ति का भाव त्याग देता है, तब यह उतने ही बोझ की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है, जितना उसका त्याग किया गया हो। यदि वस्तुओं का पूर्णतः त्याग कर दिया जाए, तो सबसे अधिक सुख प्राप्त होना चाहिए। जिन्होंने त्याग में स्वयं को सिद्ध कर लिया है, वे सचमुच सुखी हैं!

आत्मा जैसे किसी सरल द्रव्य की इस आन्तरिक अनुभूति की हम कैसे कल्पना करें? उसके स्वभाव के एक गुण के रूप में। गुण बाह्य प्रभावों के अधीन अक्रियाशील तथा सुप्त हो सकते हैं, किन्तु वे कभी पूर्णतः नष्ट नहीं होते।

जब आत्मा अपने समस्त बोझों से मुक्त हो जाएगी, तब आनन्द का यह गुण उसकी चेतना में पूर्णतः प्रकट हो जाएगा। इस प्रकार वह आनन्द, जो भौतिक शरीर तथा मन (स्मृति अथवा कल्पना) से स्वतन्त्र है, आत्मा का ही गुण है। जब यह पूर्णतः साकार होगा, तब यह सुख के उन विभिन्न रूपों का स्थान ले लेगा, जो तब अपनी लालसाओं अर्थात् आवेगों के नाश के कारण उतने ही सामान्य अथवा सामान्यीकृत विचारों में परिवर्तित हो जाएँगे।

सुख और दुख मन के केन्द्रीय अंग में अनुभव नहीं किए जाते, जो केवल चिन्तन का आसन है, संवेदनाओं का नहीं — यद्यपि यह किसी भी संवेदन को इच्छानुसार स्मरण और पुनर्जाग्रत कर सकता है।

तथ्य यह है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और उसके विभिन्न भागों में सुख-दुख जैसी अनुभूतियों को अनुभव करने में समर्थ है। यदि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त न होकर किसी केन्द्रीय भाग में, मान लीजिए हृदय-कमल में ही, स्थित होती, तो इसे अनुभूति के स्थान से किसी सन्देश पर निर्भर रहना पड़ता। किन्तु कोई सन्देश किसी सुखद अथवा दुखद संवेदन — उदाहरणार्थ, जलने की — का वास्तविक संचार नहीं कर सकता। क्योंकि यह अग्नि के विषय में एक सन्देश है, स्वयं अग्नि नहीं, जो तन्त्रिकाओं के मार्ग से भेजा जा सकता है। यदि वास्तविक अग्नि इनके ऊपर से गुज़र सकती, तो वे स्वयं भी सम्पूर्ण मार्ग में जल जातीं! यदि कलकत्ता में बैठा कोई व्यक्ति सुने कि न्यूयॉर्क में उसका घर जल रहा है, तो वह उस समाचार से केवल व्यथित होगा, किन्तु वह जलने की वास्तविक अनुभूति महसूस नहीं कर सकेगा।

शारीरिक चौकियों में से किसी एक से आने वाले किसी पीड़ादायक सन्देश के आगमन पर आत्मा के साथ भी यही स्थिति होनी चाहिए।

फिर, जलने की संवेदना उसी स्थान तक सीमित रहेगी जहाँ आत्मा स्वयं स्थित है, और यह 'उस स्थान' पर अनुभव नहीं होगी, जैसा कि वास्तव में होता है।

अध्याय २२

संवेदनाओं की विविधता

❊

संवेदनाएँ या तो अस्पष्ट व अनिश्चित होती हैं, अथवा निश्चित व स्पष्ट। अस्पष्ट और अनिश्चित संवेदनाएँ दृष्टि के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों द्वारा अनुभव की जाती हैं। वे क्षणभंगुर होती हैं और अवधान द्वारा स्थिर नहीं की जा सकतीं; अतः वे अन्वेषण के अधीन नहीं की जा सकतीं। उन्हें स्मृति द्वारा भी पुनः स्मरण नहीं किया जा सकता। फिर भी वे संवेदन के रूप में, अर्थात् मानसिक अवस्थाओं के रूप में, सम्पूर्ण और अखण्ड होती हैं।

अपने निहितार्थों की दृष्टि से संवेदनाओं की बारह सामान्य किस्में हैं। संवेदन किसी एक वस्तु का हो सकता है, अथवा अनेक वस्तुओं का; यह किसी समरूप समूह का हो सकता है अथवा विषमरूप समूह का; वस्तु आंशिक (हल्के) रूप से आवृत हो सकती है अथवा सर्वथा अनावृत; यह स्थिर हो सकती है, अथवा अस्थिर; यह धीमी गति से गतिशील हो सकती है अथवा तीव्र गति से; यह वर्णनीय हो सकती है अथवा अवर्णनीय।

12×4 का गुणा करने पर हमें दृष्टि के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों द्वारा अनुभव की जा सकने वाली अनिश्चित संवेदनाओं की कुल संख्या 48 प्राप्त होती है। निश्चित संवेदनाओं की किस्मों की संख्या 288 है। यह इन्द्रियों तथा मन (अर्थात् स्मृति) की संख्या (5+1) को संवेदनाओं की किस्मों की संख्या (12) से, और उस परिणाम (12) को पुनः बाह्य उद्दीपन के प्राप्त होने से लेकर (सम्पूर्ण) ज्ञान तक होने वाली 'अवस्थाओं' की संख्या (4) से गुणा करके प्राप्त की जाती है। वे चार 'अवस्थाएँ' ये हैं: (1) शुद्ध संवेदन, (2) जिज्ञासा की वृत्ति, जब मन बाह्य उद्दीपन की प्रकृति को मानसिक 'प्रतिकारकों' की सहायता से परखता है, (3) संवेदन का निश्चित किया गया रूप, तथा (4) उपयुक्त 'परिवेश' में स्थिर किया गया रूप। इनमें से प्रत्येक अवस्था एक पृथक् और भिन्न प्रकार के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है, और इसे किसी अन्य के साथ गड्डमड्ड नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हमें 6×12×4=288 निश्चित तथा 48 अनिश्चित संवेदनाओं की किस्में प्राप्त होती हैं, जिनका कुल योग 336 है।

ध्यान देने योग्य है कि दूसरी 'अवस्था' (जिज्ञासा की वृत्ति) से सम्बद्ध मन में विद्यमान प्रतिमा (इमेज) मूल संवेदन से भिन्न प्रकार की वस्तु है; यह उत्तरार्ध के साथ-साथ मन द्वारा जोड़े गए किसी विचार अथवा तत्त्व से युक्त है। मैं एक स्वर सुनता हूँ: यह शुद्ध संवेदन है। तत्पश्चात् मैं यह सोचता हूँ कि यह मेरे मित्र X का स्वर है, और उस तथ्य का पता लगाने का प्रयास करता हूँ। यह जिज्ञासा की वृत्ति की अवस्था है। इसमें मैंने X के स्वर के तत्त्व का आह्वान किया है, जो अब मूल संवेदन के ऊपर छाया हुआ है, यों कहें तो। तीसरी 'अवस्था' इस तथ्य के निश्चय के साथ पहुँचती है कि वह स्वर वास्तव में X का ही है। प्रत्यक्ष-ज्ञान अब निश्चित और स्पष्ट है, और अनुमान को एक सकारात्मक निश्चित तथ्य द्वारा पुनर्बल प्राप्त होता है। चौथी 'अवस्था' में उस विचार को उपयुक्त परिवेश में सम्मिलित किया जाता है, अर्थात् इसे उसके उचित स्थान में, X से सम्बन्धित संगतियों में, फिट किया जाता है।

अध्याय २३

भौतिक समान्तरता

❈

आत्मा और पुद्गल शरीर में साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। अकेले आत्मा इन्द्रिय-क्रियाशीलता के ढंग से कार्य करने में असमर्थ होगी, यद्यपि तब उसे पूर्ण असीमित ज्ञान प्राप्त होगा, और वह उसका भोग भी करेगी — सम्भावित रूप से नहीं, अपितु वास्तविक रूप से। पुद्गल अचेतन है और स्वयं कुछ भी नहीं जान सकता। पुद्गल का साहचर्य आत्मा के लिए अत्यन्त हानिकारक है, और उसे एक अमर, सर्वज्ञ तथा स्वभाव से सुखी सत्ता के रूप में अपनी वास्तविक दिव्यता को साकार करने से रोकता है।

किसी संवेदी-गतिक (सेन्सरी-मोटर) जीव-यन्त्र द्वारा सम्पन्न भिन्न-भिन्न कार्यों — शारीरिक और मानसिक दोनों — के लिए भौतिक समान्तरता सर्वत्र आवश्यक है। पुद्गल के बिना संवेदन तथा गति की तन्त्रिकाएँ और उनकी विविध शाखाएँ तथा संगतियाँ सम्भव नहीं होंगी। न ही तब अवधान होगा, और विचार की क्रमिकता समस्त अन्तर्निहित ज्ञान की एक साथ, समग्रता में प्रकट होने से प्रतिस्थापित हो जाएगी।

पुद्गल के बिना मन का केन्द्रीय अंग अस्तित्व में नहीं रह सकता; और पुद्गल की अनुपस्थिति में आवेगों तथा चरित्र की विविधताएँ भी लुप्त हो जाएँगी।

तब सभी बिलकुल समान रह जाएँगे। आवेग स्वयं उन सामान्य विचारों में रूपान्तरित हो जाएँगे जिन्हें वे अपने में समाहित रखते हैं। संक्षेप में, किसी संवेदी-गतिक जीव-यन्त्र — जैसे मानव शरीर — के क्षेत्र में ऐसा कोई विभाग नहीं है जहाँ आत्मा और पुद्गल दोनों के बिना काम चलाया जा सके। किन्तु पुद्गल को आत्मा से पूर्णतः पृथक् किया जा सकता है। यह तब सम्भव है जब हम स्वयं को उसके इन्द्रिय-तृप्तिकारक गुणों से प्रभावित न होने दें, अर्थात् आवेगों को पोषण देने से इनकार कर दें।

अध्याय २४

आचार-शास्त्र (एथिक्स)

'सद्गुण स्वयं अपना पुरस्कार है' — यह एक पुरानी कहावत है, और यह पूर्णतः सत्य है। क्योंकि यद्यपि सद्गुण मनुष्यों द्वारा अस्वीकृत और अपुरस्कृत रह सकता है, तथापि जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण है, उसके सन्दर्भ में यह कभी पुरस्कार से रहित नहीं जाता। जो कट्टरता और दुराग्रह से मुक्त हो जाता है, वह सम्यक् ज्ञान के साथ आने वाली सम्यक् श्रद्धा का अधिकारी बन जाता है। जो अपने दुष्ट कषायों को नष्ट करता है, वह उन आध्यात्मिक सम्पदाओं का स्वामी बन जाता है, जिनका सीमित मन द्वारा पर्याप्त मूल्यांकन भी नहीं किया जा सकता। जो समस्त प्रकार के कषायों और इच्छाओं से स्वयं को मुक्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शाश्वत रूप से सुखी और अमर बन जाता है!

सद्गुणों को अर्जित नहीं करना पड़ता; वे देहधारी आत्मा की दुष्प्रवृत्तियों के विलोम (विपरीत) हैं, और सम्बन्धित दोषों के नाश होने पर स्वतः, अर्थात् अपने-आप, भीतर से उत्पन्न होते हैं — जैसे, सरलता (सच्चाई) उसी क्षण उत्पन्न हो जाती है जब कोई छल करने से विरत होने का संकल्प करता है। आपको अच्छा बनना नहीं सीखना पड़ता, आपको केवल बुरा बनना छोड़ना होता है! यदि मैं क्रोध का त्याग कर दूँ, तो मैं तत्काल शान्त और स्वस्थ हो जाता हूँ, और उस शान्ति तथा स्वस्थता को कहीं से भी मोल लेने अथवा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती!

इस प्रकार समस्त शुभता उसी को प्राप्त होती है जो दुष्कर्म से विरत होने को तैयार होता है, और हम जानते हैं कि शुभता अपने अनुयायियों के लिए अन्ततः कैसे-कैसे परिणाम प्राप्त करने में समर्थ है!

अध्याय २५

शरीर की संगठक शक्तियाँ

हमारे आवेगों और उन्हें तृप्त करने की जीव-यन्त्र की क्षमताओं के बीच एक विलक्षण साम्य पाया जाता है। पकड़ने वाला हाथ उस आवेग को तृप्त करने के लिए बना है जो अपनी वस्तु को ग्रहण करना चाहता है; पैर व्यक्ति को किसी वांछित वस्तु के निकट पहुँचने अथवा किसी शत्रु से बचने में समर्थ बनाने के लिए हैं; उदर ग्रहण किए गए पोषण को प्राप्त करने और पचाने के लिए है। यह साम्य क्यों है? यह साम्य कहाँ से आता है, यदि ये संगठक शक्तियाँ स्वयं व्यक्तिगत आवेग ही नहीं हैं?

आवेग बचे रहते हैं; वे मृत्यु के साथ मिटाए नहीं जा सकते; क्योंकि वे आत्मा के अस्तित्व में जड़ें जमाए हुए हैं, जो अमर है। वे सक्रिय लालसाएँ हैं, कोई निष्क्रिय अनावश्यक वस्तु नहीं। जब माता के गर्भ में भ्रूण विकास की प्रक्रिया में होता है, तब उन्हें अवश्य ही कुछ-न-कुछ कर रहा होना चाहिए। किन्तु वहाँ वे अपने क्षोभ और कम्पनों द्वारा शरीर के अंगों और अवयवों को आकार देने के अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं? यह स्पष्ट है कि उस समय माता के गर्भ में अवश्य ही कोई बल अथवा बल-समूह क्रियाशील होना चाहिए। यह भी अब स्पष्ट है कि आत्मा स्वयं गर्भ में उपस्थित है — अवश्य ही उपस्थित है — जबकि जीव-यन्त्र का निर्माण हो रहा है। आत्मा कोई शान्त, गतिहीन, निष्क्रिय द्रव्य नहीं है; यह पुद्गल के साथ साहचर्य में है, और पुद्गल के प्रभाव में निरन्तर क्षोभ की अवस्था में है। क्या यह मूर्खतापूर्ण और निरर्थक न होगा कि हम कहें कि ऐसी आत्मा अपने ही शरीर के संगठन की प्रक्रिया में कोई भाग नहीं लेती? शरीर से आत्मा जितना घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है, उतना घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई अन्य कोई वस्तु नहीं है, जो उसमें निवास करती हो। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि आत्मा शरीर में एक बाल-बराबर भी नहीं मुड़ सकती। तो फिर, आत्मा की उपस्थिति और गतिविधियों से शरीर के निर्माण को भौतिक रूप से प्रभावित क्यों न होना चाहिए? जीवन-काल में अपनी-अपनी वस्तुओं के साथ तृप्ति खोजने में संलग्न, आत्मा के आवेग अब — जबकि बाह्य शरीर अस्थायी रूप से त्याग दिया गया है — उस पदार्थ पर सीधे कार्य करेंगे जिससे शरीर के अंग और अवयव बनते हैं, और उसे उपयुक्त रूपों में ढालने में

सहायता करेंगे। इस प्रकार हमें समस्त शारीरिक परिणमनों का मूल कारण, सर्वप्रथम, व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति में ही खोजना होगा, क्योंकि यही उसके आवेगों और चरित्र की निधि है!

जो शरीर बनाया जाता है, उसमें अपने अमर स्वामी के पूर्व जीवन के साथ केवल दो ही समानताएँ होती हैं। इनमें से एक वह आत्मा है जो उसमें देहधारण करती है, और दूसरी वह आवेगों की सम्पदा है जिसे वह (आत्मा) इच्छा-शक्ति के रूप में अपने साथ लाती है। पुरानी तन्त्रिका-संगतियाँ और पूर्व जीवन से सम्बद्ध बाकी सब-कुछ अब सदा के लिए लुप्त हो चुका है। हो सकता है कि इसका केन्द्रीय मानसिक तन्त्र भी न हो, यदि जो रूपान्तरित आवेग यह भूतकाल से साथ लाई है, वे उसके निर्मित होने की अनुमति न दें। जो वस्तुएँ वह पहले सुगमता से स्मरण कर सकती थी, वे अब मन के केन्द्रीय अंग के अभाव के कारण स्मरण नहीं की जा सकतीं। यहाँ तक कि यदि मन के केन्द्रीय अंग का पुनर्निर्माण भी हो जाए, तो भी पुरानी स्मृतियाँ, प्रत्यक्ष-ग्राही केन्द्रों से आवेग को जोड़ने वाले सम्बन्धित तन्त्रिका-तन्त्र के अभाव में, पुनर्जीवित नहीं की जा सकतीं। ऐसे प्रकरणों में इच्छा-शक्ति में विद्यमान आवेग, यों कहें तो, वस्तुगत जगत से उद्दीपन के अभाव में स्वयं ही 'सूखने' लगेंगे। संक्षेप में, बाहरी जगत से उद्दीपन के अभाव में शिथिल पड़ चुके पुराने विलुप्त आवेगों को पुनर्जीवित करने की कठिनाई असाध्य होगी, सिवाय उन प्रकरणों के जहाँ किसी बाह्य कारण से वे गहराई से उद्वेलित हो जाएँ, ताकि चेतना को जगा सकें। ऐसे अवसर किसी ऐसी वस्तु के 'दर्शन' से प्राप्त हो सकते हैं, जो आत्मा में कभी प्रबल भावनाएँ जगाया करती थी। क्योंकि स्मरण के तन्त्रिका-तन्त्रों के लुप्त होने का अर्थ आत्मा से ज्ञान और प्रत्यक्ष-ग्राही क्षमता का सर्वथा उन्मूलन नहीं है। पुराने संचालन-पटल का लुप्त होना केवल आत्मा को प्रत्यक्ष-ग्राही केन्द्रों में पुरानी स्मृतियों को जगाने से रोकता है। बटन और स्विच वास्तविक प्रत्यक्ष-ज्ञान द्वारा पुनः स्थापित करने होंगे; किन्तु ज्ञान तो वहाँ है ही, उसे नए सिरे से निर्मित नहीं करना पड़ता। पूर्वजन्मों का ज्ञान भी तब प्राप्त होता है जब ज्ञान को अवरुद्ध करने वाला आवरण (ज्ञानावरण) सन्तों के तप के फलस्वरूप अथवा उसके माध्यम से क्षीण अथवा नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रकरणों में, तथापि, पुनर्जन्म प्राप्त आत्मा के लिए भूतकाल का स्मरण सम्भव नहीं होता। मन के केन्द्रीय अंग के लुप्त होने का कारण उस प्रकार के जीवन में खोजा जाना चाहिए जो व्यक्ति ने जिया हो। ऐसा

प्रतीत होता है कि मन के केन्द्रीय अंग का अर्जन इस बात का संकेत है कि आत्मा ने इन्द्रियों की दासता के जुए को कुछ सीमा तक उतार फेंका है। क्योंकि निम्नतर पशु — एक, दो, तीन अथवा चार इन्द्रियों से युक्त, तथा पञ्चेन्द्रिय जातियों में से भी कुछ, जो केन्द्रीय मानसिक तन्त्र से रहित हैं — इन्द्रियों की घोर दासता में जीने को अभिशप्त हैं। वे रुक नहीं सकते, विचार-विमर्श नहीं कर सकते और सोच नहीं सकते, और अनुभव से बुद्धि अर्जित नहीं कर सकते। वे इन्द्रियों के आकर्षण का प्रतिरोध नहीं कर सकते, और उनमें कोई स्मृति नहीं होती। वे बार-बार, बिना चेतावनी लिए, उसी चारे को निगलते रहेंगे। दूसरी ओर, जिन्होंने मन का केन्द्रीय अंग विकसित कर लिया है, उनमें प्रलोभन का सामना करने की क्षमता होती है। वे स्वयं को रोक सकते हैं और प्रतीक्षा कर सकते हैं; वे पूर्व अनुभवों का स्मरण करते हैं और अपने स्मरणों द्वारा मार्गदर्शित होते हैं। इन दोनों प्रकारों के बीच अन्तर, संक्षेप में, एक की असमर्थता और दूसरे की समर्थता में है — इन्द्रियों के आकर्षण का प्रतिरोध करने में। दूसरे शब्दों में, एक प्रकरण में आवेग अत्यधिक प्रबल होते हैं, किन्तु दूसरे में उन्हें वश में किया जा सकता है। अब, चूँकि आवेगों को आत्मा एक जीवन से दूसरे जीवन में साथ लेकर जाती है, अतः जो उन्हें वश में करने की क्षमता रखते हैं, उन्होंने अवश्य ही अपने पूर्व जीवन में ऐसा करना सीखा होगा। उन्होंने स्वयं को उस दिशा में अनुशासित किया होगा। जो अभी अपनी लालसाओं को वश में नहीं रखते, और जो अपने कषायों और इच्छाओं के दास बन गए हैं, उन्हें अवश्य ही अपने अगले जन्म में चिन्तन के अंग को खोने के लिए तैयार रहना चाहिए। वे अपना जीवन इन्द्रियों में जीते हैं, और इन्द्रियों में ही अगले जन्म में जागेंगे। वे 'मन' का जीवन नहीं जीते, और मन (अर्थात् चिन्तन का केन्द्रीय अंग) उनके द्वारा अपने अगले अवतार में न तो आवश्यक होगा, न ही निर्मित किया जाएगा।

आत्मा मन के केन्द्रीय अंग में गति के नियन्त्रकों से बँधी हुई है; किन्तु इनके तथा संवेदी पटल के बटनों और स्विचों के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। केवल निम्नतर केन्द्रों में ही संवेदन गति से जुड़ा हुआ है। चेतना के उच्चतम स्तर पर मन को एक क्रिया के स्थान पर दूसरी को प्रतिस्थापित करने की, यहाँ तक कि क्रिया को ही रोक देने की, चुनाव-शक्ति प्राप्त होती है। अतः संवेदन और क्रिया के बीच सीधा सम्बन्ध मन के केन्द्रीय क्षेत्र में अनुपस्थित रहता है। किन्तु यदि कोई पशुवत् जीवन जिए अथवा स्वयं को इन्द्रियलोलुप जीवन में सर्वथा

समर्पित कर दे, तो शीघ्र ही संवेदन और क्रिया के बीच एक सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा, और चुनाव की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाएगी। उच्चतर केन्द्र उपयोग के अभाव में क्षीण हो जाएँगे, और संवेदन तथा क्रिया के बीच सीधे सम्बन्ध की स्थापना से स्थूल बन जाएँगे। किसी को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि ऐसी परिस्थितियों में मृत्यु के बाद नए शरीर में आत्मा के भीतर चिन्तन का कोई अंग संगठित होगा। ऐसा प्राणी पशु योनि में वापस गिर जाएगा। एक अन्य प्रकार की आत्माएँ भी हैं जो चिन्तन के अंग का प्रयोग तो करती हैं, किन्तु केवल दूसरों को कष्ट और पीड़ा पहुँचाने के लिए। वे दूसरों को सताने की नई-नई विधियाँ खोजती हैं, और अपने कार्य में आनन्द लेती हैं। वे स्वाभाविक रूप से अपने अगले पुनर्जन्म में केन्द्रीय अंग को विकसित करेंगी किन्तु उनके आवेग सबसे उग्र होंगे और उनकी आत्माएँ अत्यधिक पुद्गल से अवरुद्ध होंगी। यही वे लोग हैं जो पीड़ा और यातना के क्षेत्रों — अर्थात् नरक-जीवन, जैसा इसे कहा जाता है — के लिए नियत हैं, जो सौभाग्य से अन्ततः समाप्त होने वाला भी है।

जिनके आवेग उनकी बुद्धि के साथ भाग जाने की अनुमति नहीं पाते, वे मनुष्यों में पुनर्जन्म लेंगे, और जो आत्म-दमनकारी तपस्याओं के माध्यम से उन्हें व्यवस्थित रूप से उन्मूलित करने का प्रयत्न करते हैं, वे अधिक सुखद परिवेशों — जिन्हें स्वर्ग कहा जाता है — में जाएँगे — जो, हाय! नरकों के समान ही अन्ततः समाप्त होने वाले हैं। निर्वाण, वह सुखद धाम जहाँ से कोई कभी लौटता नहीं, न ही लौटना चाहता है, तब प्राप्त होता है जब आवेग सर्वथा नष्ट कर दिए जाते हैं। तब आत्मा में कोई लालसा शेष नहीं रहती, और ज्ञान इच्छा-शक्ति के क्षोभ से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है! जो दो नियम आत्मा और पुद्गल के परस्पर संयोग को नियन्त्रित करते हैं, वे ये हैं:— (i) आत्मा में प्रवाहित होने वाले पुद्गल की मात्रा मन, वचन और शरीर की क्रियाशीलता पर निर्भर करती है, जिनके माध्यम से हम अपने व्यक्तिगत प्रयोजनों को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं, तथा (ii) जिस चिपचिपेपन (एडहीज़िवनेस) से पुद्गल आत्मा से चिपकता है, वह व्यक्तिगत कषायों और इच्छाओं की प्रकृति से निर्धारित होता है, जिसमें आवेगों के सबसे तीव्र क्षोभ का सबसे बुरा परिणाम होता है।

जब आवेगों को पोषण नहीं दिया जाता और उन्हें दृढ़ता से नकार दिया जाता है, तब वे क्षीण होने लगते हैं, जिसका अर्थ है कि संविधान में पुद्गल का चिपचिपापन घटने लगता है और अन्ततः सर्वथा नष्ट हो सकता है। इस

प्रकार आत्म-नियन्त्रण के द्वारा उन्हें शीघ्रता से जड़ से उखाड़ा जा सकता है। जहाँ आत्म-नियन्त्रण का प्रयोग नहीं किया जाता, वहाँ आवेगों के भौतिक आधार का क्षण-प्रतिक्षण निरन्तर पुनर्समायोजन होता रहता है। विद्यमान पुद्गल निरन्तर आन्तरिक क्षोभों के रूप में उपभुक्त होता जाता है, और बाहर से नया पुद्गल प्रवेश करता जाता है।

इस दृष्टिकोण से, आत्मा जल से भरे उस टंकी के समान है जिसमें से पुराना जल वाष्पीकरण द्वारा निरन्तर निकलता जाता है, और जिसमें उसके पोषक मार्गों से ताज़ा जल निरन्तर प्रविष्ट होता जाता है। यदि हम इस भीतरी टंकी को सूखा हुआ देखना चाहें, तो हमें अपने पोषक मार्गों को बन्द करके ताज़े जल के प्रवेश को रोकना होगा, और विद्यमान जल के वाष्पीकरण में सहायता के लिए उसके नीचे अग्नि (आत्म-त्यागपूर्ण संन्यास) प्रज्ज्वलित करनी होगी!

कम सक्रिय, और इसलिए सामान्यतः अप्रभावी, आवेगों तथा जो अधिक सक्रिय हैं उनके बीच अन्तर उस ऊर्जा की मात्रा में है जिससे वे कम्पायमान हो सकते हैं, बाद वाले प्रकार में बल का अधिक व्यय निहित होता है। अधिक सक्रिय आवेग निरन्तर अपनी वस्तुओं से तृप्ति खोजते रहते हैं, और अतिरिक्त पुद्गल को ग्रहण एवं आत्मसात् करते रहते हैं, जो पुनः उनकी उग्रता को बढ़ाने में योगदान देता है, इस प्रकार एक प्रकार का दुश्चक्र स्थापित हो जाता है — लालसा, तृप्ति, बढ़ी हुई लालसा! वस्तु की अनुपस्थिति में वे स्मरण किए गए संवेदनों से काल्पनिक तृप्ति चाहते हैं, संवेदी तन्त्र के पदार्थ से ही ताज़ा पुद्गल आत्मसात् करते हुए। जब आत्म-नियन्त्रण अर्जित कर लिया जाता है और मन उनकी लालसाओं का प्रतिरोध करने में समर्थ हो जाता है, तब आगे कोई प्रवाह नहीं होता, और विद्यमान पुद्गल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, जिससे आवेग स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

अध्याय २६

लेश्याएँ

अमुक्त, अर्थात् देहधारी आत्मा, पुद्गल के साहचर्य के कारण आकर्षण और चुम्बकत्व के बलों के अधीन है। आकर्षण का सिद्धान्त कम्पनों की पिच, स्वर और तीव्रता की समानता में, अर्थात् एक शब्द में, लय में निहित है, जो बल के समस्त रूपों तथा उन द्रव्यों को — जब उन्हें बल के रूप में सोचा जाए, जो कि वे अपने अन्तिम विश्लेषण में वास्तव में हैं — विशेषित करता है। पुद्गल के भिन्न-भिन्न संयोजन और समूहीकरण कम्पनों की भिन्न-भिन्न मात्रा, प्रकार, दर, पिच और स्वर रखेंगे, और बाहरी वस्तुओं से आने वाले अनुरूप कम्पनों के प्रति सुगमता से गूँजेंगे, जैसा इच्छा-शक्ति के आवेगों के साथ भी होता है। अब, पुनर्जन्म को नियन्त्रित करने वाला सिद्धान्त यह है: यह आवेगों की दर, स्वर, तीव्रता और पिच का परिणाम है, जो चरित्र का निर्माण करता है, और यही भावी पुनर्जन्म का निर्धारक कारण है। आत्मा यन्त्रवत् रूप से वहीं आकृष्ट होकर खींची जाती है जहाँ उसके आन्तरिक कम्पन (आवेग) बाहरी जगत में अनुकूल कम्पन पा सकें, और वहीं पुनर्जन्म लेती है। स्वर्ग, नरक अथवा मनुष्यों में पुनर्जन्म — यह सब इच्छा-शक्ति के आवेगों के आन्तरिक कम्पनों का ही प्रश्न है। जीवन के निम्नतर स्तरों — पशु और वनस्पति रूपों — में पुनर्जन्म को नियन्त्रित करने वाली स्थिति भी इसी प्रकार की है।

भौतिक कम्पन रंग से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, जिनसे आत्मा मुक्त है। किन्तु पुद्गल के संयोग के कारण, चरित्र की निधि के रूप में इच्छा-शक्ति भी रंग से विशेषित है। इसे नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, किन्तु दिव्यदृष्टि से इसका अनुभव किया जा सकता है। प्रमुख रंग छः हैं: काला, नीला, कबूतर जैसा (धूसर-कपोत), पीला, गुलाबी और श्वेत। इन रंगों की अनेक छटाएँ हैं, और वे समय-समय पर आवेगों के परिवर्तन के साथ बदलती रहती हैं; किन्तु प्रकार केवल छः ही हैं। इन्हें लेश्या (आत्मा के रंग अथवा आभा) कहा जाता है। लेश्याएँ वस्तुतः इतने अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के आन्तरिक कम्पनों का प्रतिनिधित्व करती हैं, और आत्मा के भावी पुनर्जन्म को

निर्धारित करती हैं। काला सबसे बुरा है, और अत्यन्त निकृष्ट परिवेश तथा क्षेत्रों की ओर ले जाता है। श्वेत सबसे उत्तम है और उच्चतम स्वर्गों में जीवन से सम्बद्ध है। शेष रंग जीवन के मध्यवर्ती स्तरों का लेखा-जोखा देते हैं।

भौतिक समान्तरता के दृष्टिकोण से, आत्मा और पुद्गल का संयोग वहाँ सबसे घनिष्ठ होता है जहाँ इच्छाओं की तृप्ति सबसे गहन होती है। सुख और दुख की अनुभूति के प्रसंग में यह देखा जा चुका है कि वे मात्र सम्पर्क से कहीं अधिक घनिष्ठ मिलन को दर्शाते हैं, आत्मा और पुद्गल के बीच। तृप्ति के गहरे घूँट इस मिलन को और भी सुदृढ़ बनाते जाएँगे, इतना कि पुद्गल सचमुच आत्म-द्रव्य से ऐसे चिपक जाएगा मानो उससे गोंद द्वारा जोड़ दिया गया हो। अपने आवेगों के माध्यम से आत्मा निरन्तर पुद्गल के सूक्ष्म अदृश्य 'अणुओं' को अपनी ओर खींचती रहती है, और यह प्रवाह निद्रा के समय भी निरन्तर चलता रहता है, जिसका अर्थ यह नहीं है कि सभी आवेग अथवा क्रियाशीलता उस समय रुक जाती है, जैसा कि स्वप्नों की परिघटना से स्पष्ट है।

आत्मा और पुद्गल का यह संयोग आत्म-द्रव्य की स्वाभाविक क्रियाशीलता में बाधा डालता है, और परिणामस्वरूप उस पर विविध प्रकार की सीमाएँ आरोपित होती हैं। क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान, आनन्द तथा आध्यात्मिक पूर्णता के अन्य समस्त रूप आत्म-द्रव्य के ही स्वाभाविक गुण हैं, और किसी भी प्रकार बनाए अथवा निर्मित नहीं किए जा सकते। वृक्षों में आत्मा भौतिक बोझों से इतनी अभिभूत है कि वह व्यावहारिक रूप से लगभग अचेतन है। निम्नतर — प्राणी — कीट, पतंगे, शंख आदि — वृक्षों की अपेक्षा केवल एक कदम अधिक 'प्रकाशित' हैं। उच्चतर प्राणियों में भी मानसिक कार्यक्षमता की बहुत कमी होती है। मनुष्य स्वयं भी सदैव बुद्धि के शिखर पर प्रतिष्ठित नहीं है। यह समस्त भिन्नता केवल पुद्गल के प्रभाव के कारण है, जो आत्मा पर भिन्न-भिन्न प्रकार से डाला जाता है। पुनरावर्तन (जन्म-मरण का चक्र, ट्रांसमाइग्रेशन) वह विपत्ति का रूप है जो अचिन्तनशील आत्मा पर उसके पुद्गल के साथ संयोग के परिणामस्वरूप शाश्वत रूप से आरोपित रहता है। जो सद्गुणी कार्य करते हैं, वे अपने जीवन-पथ में क्रमशः ऊपर उठते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि पुद्गल का चिपकाने वाला लेप सद्गुण में वाइस (दोष) की अपेक्षा कम चिपचिपा होता है, एक में आत्म-संयम में उदारता निहित है और दूसरे में किसी की स्वार्थी, कामुक लालसा की पूर्ण तृप्ति। जब पुद्गल आत्मा में और अधिक नहीं खींचा जाता — अवधान को इच्छा की वस्तुओं से हटाकर (आत्म-चिन्तन की प्रक्रिया में) — तब आवेगों को पोषण

नहीं मिलता, और वे टूटने लगते हैं। दूसरी ओर, यदि दुष्ट जीवन-शैली के परिणामस्वरूप भौतिक आवरण अत्यधिक गाढ़ा हो जाए, तो आत्मा अपनी चेतन-क्षमता से इतनी वंचित हो सकती है कि जीवन के निम्नतम स्तर में गिर जाए, जो स्पर्श की संवेदनाओं के प्रति केवल न्यूनतम संवेदनशीलता से चिह्नित है।

निर्वाण में आत्मा पुद्गल, आवेगों तथा लेश्याओं से सर्वथा रहित है, और केवल शुद्ध, निर्मल तथा अकलंकनीय प्रकाश के रूप में विद्यमान रहती है!

अध्याय २७

श्रद्धा (फ़ेथ)

❊

श्रद्धा मन की एक वृत्ति है — विचारों के किसी विशेष समूह की ओर, अर्थात् एक विशिष्ट मानसिक 'समूह' की ओर, झुकाव।

मिथ्या श्रद्धा निम्नतर अहं, अर्थात् भौतिक स्व, के कल्याण के इर्द-गिर्द केन्द्रित होती है। जो कोई अथवा जो कुछ भी निम्नतर अहं के हितों के लिए सहायक माना जाता है, उसे सहजता से एक संरक्षक और रक्षक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। सर्वोच्च कोटि के संरक्षक को ईश्वर (सामान्यतः बड़े 'ई' से) कहा जाता है। इस प्रकार की श्रद्धा प्रार्थना द्वारा सुदृढ़ होती है, अर्थात् भक्त की प्रार्थनाओं के प्रति उसके ईश्वर की मानी गई प्रतिक्रिया द्वारा। अविवेकी लोग सदैव दैनिक जीवन की अनुकूल घटनाओं में ऐसी प्रतिक्रिया खोजते रहते हैं, और सबसे स्वाभाविक तार्किक कार्य-कारण सम्बन्धों को भी ईश्वरीय कृपा का चिह्न बनाने में तनिक भी संकोच नहीं करते। ऐसा मन कट्टरता के राजमार्ग पर तेज़ी से अग्रसर हो रहा होता है।

सूचना और श्रद्धा (दृढ़ विश्वास) में केवल यही अन्तर है कि अविश्वास की विशेषता वाला अनिश्चितता का तत्त्व, जो पहले में विद्यमान है, दूसरे में अनुपस्थित है। दूसरे शब्दों में, श्रद्धा मानसिक क्षोभ से मुक्त है; सूचना नहीं है।

श्रद्धा दृढ़ विश्वास से उत्पन्न होती है, चाहे वह सिद्धान्त के कारण हो अथवा अनुभव के कारण; किन्तु स्वाभाविक रूप से अनुभव को मात्र मानसिक तर्क-वितर्क पर वरीयता प्राप्त है, क्योंकि यह विश्वास की वस्तु का व्यावहारिक प्रदर्शन ही है, मानो।

श्रद्धा सन्देह द्वारा आक्रान्त और यहाँ तक कि नष्ट भी की जा सकती है। ऐसा तब होता है जब विश्वास की वस्तु के साथ असंगत कोई बात व्यक्ति के अनुभव में आकर उसके दृढ़ विश्वास को अस्थिर कर देती है। यदि सन्देह का स्वाभाविक रूप से, अर्थात् अध्ययन और अन्वेषण के द्वारा, निराकरण न हो, तो यह श्रद्धा को पूर्णतः

नष्ट करने की प्रवृत्ति रखेगा, जब तक कि इसके विपरीत झुकाव इतना प्रबल न हो कि उसे प्रतिवादित (रिप्यूडिएट) कर सके। अन्तिम स्थिति में, यह जीवन के इच्छा-पक्ष द्वारा दबा दिया जाएगा और श्रद्धा पुनः स्थापित हो जाएगी।

सम्यक् श्रद्धा अपनी आत्मा की दिव्यता में विश्वास है, तथा किसी बाह्य रक्षक अथवा ईश्वर के संरक्षण में अविश्वास। यह आंशिक अथवा पूर्ण अन्वेषण से उत्पन्न होती है।

सबसे पहले कट्टरता और दुराग्रह की उग्रता, सबसे बुरे — उबलते बिन्दु के — प्रकार के प्रमुख कषायों के साथ, नष्ट हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप आत्मा में सौम्यता और खुले विचार आ जाएँगे; और अब यह सच्चे गुरु की खोज करेगी और उससे (वैज्ञानिक) सत्य सुनेगी। प्रवचन के परिणामस्वरूप मन में और अधिक शान्ति और स्पष्टता आएगी, तथा आत्मा की आँखें, जो अब तक बन्द थीं, पहली बार सत्य को देखने के लिए खुल जाएँगी, ऐसा कहा जा सकता है। यह अब उस पर गम्भीरता से विचार करेगी जो उसने सुना है, और अपने सन्देहों के नाश के परिणामस्वरूप, एक-एक करके, श्रद्धा अर्जित करेगी। सन्देह के बिन्दुओं के क्षोभ की समाप्ति के साथ-साथ, जैसे-जैसे वे एक-एक करके नष्ट होते जाते हैं, चिन्तक बढ़ता हुआ सन्तोष अनुभव करता है। अन्ततः गुरु के वचन और आत्मा के अपने सीमित ज्ञान-संचय के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है, जो मन की पूर्ण सामंजस्यपूर्ण और क्षोभ-रहित अवस्था के साथ चिह्नित होता है। इसके साथ ही सच्चे आनन्द की उस भावना का स्पन्दन जुड़ जाता है, जो आत्मा अब पहली बार अनुभव करती है, उन बोझों से मुक्त होने के परिणामस्वरूप जिनसे वह अभिभूत और दबी हुई थी। अब यह स्वयं को जानती है — पदार्थ की कोई तुच्छ नाशवान वस्तु नहीं, अपितु एक वास्तविक ईश्वर, अमर, सर्वज्ञ, आनन्दमय और अजेय!

एक बार जब गुरु के वचन पर विश्वास की मुहर लग जाती है, तो मन में नए समूह बनते हैं, और पुराने नष्ट हो जाते हैं। आवेग भी शरीर की लालसाओं की जड़ों से ढीले पड़ जाते हैं, और फिर कभी पहले जैसे नहीं रह सकते। वह निम्नतर व्यक्तित्व, जो पूर्व-प्रबोधन के दिनों में सदैव और सभी परिस्थितियों में अवधान का केन्द्र और आकर्षण-बिन्दु हुआ करता था, अब पतन की ओर लड़खड़ाने लगता है। इसके पश्चात् यह केवल जली हुई रस्सी के रूप में ही रह सकता है। तथापि यह अभी भी विचार को प्रबल अन्धश्रद्धा का रंग देने में समर्थ है। पुराने

पौराणिक देवता अब जा चुके हैं; किन्तु मन अभी भी संकट का सामना करने के लिए इतना दृढ़ नहीं है; यह संकट में तुरन्त नए आदर्शों की ओर सहायता के लिए मुड़ता है।

श्रद्धा का नियम यह है कि यह कभी क्रिया में रूपान्तरित होने में असफल नहीं होती। ऐसा उन संगतियों के कारण है जिनमें मन में स्थित आदर्श स्थित है, तथा जीवन की एकात्मक प्रकृति के कारण। आवेग, जो मानसिक आदर्श में केन्द्रित होते हैं — चाहे वह सत्य हो अथवा असत्य — उसी से रूपान्तरित और नियन्त्रित होते रहेंगे। दुष्टता को धर्मपरायणता और साधुता द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है, अथवा इसके विपरीत भी। यह सब मन में स्थापित आदर्श पर निर्भर करता है।

स्वयं आदर्श की स्थिरता श्रद्धा पर निर्भर है, जो आत्मा के जीवन-पथ में सैकड़ों-हज़ारों बार खोई और पुनः अर्जित की जा सकती है। तथापि वैज्ञानिक श्रद्धा (शास्त्रीय अध्ययन तथा अन्वेषण के परिणामस्वरूप अर्जित) के साथ स्थिति भिन्न है; क्योंकि उसकी दृढ़ता में बाधा डालने के लिए कोई सन्देह शेष नहीं रहता। यहाँ तक कि जहाँ कुछ प्रश्न अभी भी हल किए जाने शेष हों — जो सीमित मन के लिए अनिवार्य है — वहाँ भी, मूल तत्त्वों पर सामान्य पकड़ सुनिश्चित होने के कारण, वे केवल आगे और अन्वेषण के लिए प्रेरित कर सकते हैं, किन्तु सत्य में स्थापित दृढ़ विश्वास में कभी बाधा नहीं डाल सकते!

अध्याय २८

स्वतन्त्र इच्छा और नियतिवाद

❊

स्वतन्त्र इच्छा (फ्री विल) और कर्म अथवा नियतिवाद (प्रीडेस्टिनेशन) की शाश्वत पहेली सुगमता से सुलझाई जा सकती है। कर्म (नियति) आवेगों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। स्वतन्त्र इच्छा वास्तव में केवल वही करना है जो कोई करना चाहता है, अर्थात् वह कार्य जो अपने स्वभाव के सर्वाधिक अनुकूल है। सम्पूर्ण विषय केवल उस दृष्टिकोण का प्रश्न है, जिससे प्रश्न का सामना किया जा रहा है। यदि हम स्वभाव (व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति) के पूर्ववर्ती कारणों की ओर न देखें अथवा न देखें, तो किसी भी जीवधारी द्वारा सम्पन्न प्रत्येक वास्तविक क्रिया स्वतन्त्र है; जब अवधान उन बलों की ओर निर्देशित होता है जो स्वयं स्वभाव के निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं, तब कोई भी क्रिया इन बलों से पूर्णतः विलग नहीं की जा सकती, और इसलिए स्वतन्त्र नहीं कही जा सकती।

सत्य की शिक्षा के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यह उनके लिए स्वीकार्य नहीं होगी जिनके स्वभाव इसके अर्जन में बाधक हैं। उन्हें किसी बाह्य बल द्वारा इससे दूर नहीं रखा जाएगा, अपितु केवल उनके अपने स्वभावों द्वारा। वास्तव में वे इस शिक्षा को अस्वीकार करने में ही आनन्द लेंगे, और अपनी स्वतन्त्र इच्छा का उपयोग कर उसे अस्वीकार करने के विशेषाधिकार का दावा करेंगे, क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं होगी। किन्तु उनकी यह तथाकथित स्वतन्त्र इच्छा और क्या है, सिवाय एक ऐसे चरित्र के जो उनकी इच्छा को सत्य के विरुद्ध पूर्वाग्रहित (अथवा पूर्व-निर्धारित) करता है?

अतः मोक्ष केवल उन्हीं के लिए उपलब्ध होगा जिनकी इच्छा सत्य की ओर पूर्वाग्रहित हो चुकी होगी। शेष बन्धन में ही उलझे रहेंगे, जब तक कि वे (यदि सम्भव हो तो) वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथा सत्य की ओर झुकाव और उसकी प्यास अर्जित करने में समर्थ न हो जाएँ! अनेक लोग, जो अभी दिव्य सत्य के संरक्षकों को तुच्छ समझते और सताने का प्रयत्न करते हैं, अपने साथ सत्य के विरुद्ध प्रबल पूर्वाग्रह लेकर जाएँगे और उसे कभी अर्जित करने को इच्छुक नहीं होंगे। उनकी दशा निराशाजनक प्रतीत होगी!

सी. आर. जैन की अन्य रचनाएँ

1. दि की ऑफ़ नॉलेज
2. दि कॉन्फ़्लुएन्स ऑफ़ अपोज़िट्स (द्वितीय संस्करण)
3. जैन लॉ
4. दि साइंस ऑफ़ थॉट (द्वितीय संस्करण)
5. व्हाट इज़ जैनिज़्म (निबन्ध एवं भाषण)
6. डिस्कोर्स डिवाइन
7. दि प्रैक्टिकल धर्म (द्वितीय संस्करण)
8. दि सन्न्यास धर्म
9. दि हाउसहोल्डर्स धर्म
10. आत्म रामायण
11. दि जैन पेनेन्स
12. फ़ेथ, नॉलेज ऐंड कण्डक्ट
13. ऋषभदेव — जैन धर्म के संस्थापक
14. आत्म धर्म